परमेश्वराय नमः

न्यायाचार्य विरुद विभूषित श्रीमद् उदयनाचार्य
विरचित

न्याय कुसुमाञ्जलिः

भाषा–भावानुवादक
दर्शनाचार्य श्री पं. जगदीशचन्द्र शास्त्री

परमेश्वराय नमः

न्यायाचार्य विरुद विभूषित श्रीमद् उदयनाचार्य
विरचित

न्याय कुसुमाञ्जलिः

—:o:—

भाषा–भावानुवादक
दर्शनाचार्य श्री पं. जगदीशचन्द्र शास्त्री

—o—

दयानन्दाब्द १३५ वि० सं० २०१५

प्रति १०००] —:o:— [मूल्य सजिल्द ३) रुपये

अनुक्रमणिका

कुसुमाञ्जलि व्याख्यान विषय | पृष्ठ

भूमिका

समस्त संस्कृत साहित्य में "न्यायकुसुमाञ्जलि" ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिस में युक्ति प्रयुक्ति के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है। इस में नैयायिकमूर्धन्य श्रीमद् उदयनाचार्य ने तत्कालीन चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि नास्तिकों और सांख्यों, मीमांसकों तथा अद्वैतवादियों के प्रवल हेत्वाभासों का ऐसा उत्तर दिया है कि परमेश्वर की परमपावनी सत्ता के विरोधी सदा के लिये निरुत्तर हो गये हैं। यह ग्रन्थ अत्यन्त जटिल, क्लिष्ट और गम्भीर होने के कारण उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वानों के मनन का ही विषय रहा है तथा विद्वान् लोग संस्कृत में ही इस पर विचार विमर्श करके टीकायें, टिप्पणियें और व्याख्यान लिखते रहे हैं।

वर्तमान युग में हिन्दीभाषा का क्षेत्र वहुत विस्तृत होता जा रहा है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में प्रामाणित व्याख्यान होना अत्यन्त आवश्यक था जिससे सर्वसाधारण जनता नास्तिकता के गहरे गर्त में गिरने से वच सके। बड़े सौभाग्य की वात है और अत्यन्त हर्ष का विषय है कि दर्शनाचार्य श्री पं. जगदीशचन्द्र शास्त्री जी ने इस उत्तम ग्रन्थ की हिन्दी भाषा में व्याख्या की है। हमने इस हिन्दी व्याख्यान को प्रायः आद्योपान्त विशेष ध्यान से देखा है। मूल कारिकाओं के शब्दार्थ और स्पष्टीकरण से युक्त व्याख्या अत्यन्त सरल और मनोरंजक ढंग से की गई है। विषय अतीव गम्भीर होने पर भी रोचक और आकर्षक बन गया है। विशेषतः ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष बाधा के महान् पर्वत को परे हटाने में जो बुद्धि कौशल दिखाया गया है वह बड़े से बड़े प्रत्यक्षवादी नास्तिक को भी चुप करा देने के लिये सशक्त ब्रह्मास्त्र का काम करता है।

ऐसे कठिन दार्शनिक ग्रन्थको इतना सरल बनाया है कि यह न केवल विद्वानों के पठनपाठन के लिये ही परमोपयोगी सिद्ध होगा अपितु सर्वसाधारण के लिये भी अत्यन्त लाभकारी और शास्त्रीय ज्ञानवर्धक होगा। निस्सन्देह शास्त्री जी ने बड़े साहस और परिश्रम का कार्य किया है हम निस्संकोच भाव से अत्यन्त

हर्ष के साथ प्रमाणित करते हैं कि लेखक महोदय इस उत्कृष्ट ग्रन्थ के स्पष्टीकरण करने में सर्वथा सफल हुए हैं। हम हृदय से धन्यवाद भी करते हैं कि उनकी प्रभावशाली अभिनव व्याख्या के द्वारा हिन्दी भाषा भाषी जनता भी भारत के प्राचीन और अलौकिक प्रतिभाशाली दार्शनिक शिरोमणि श्रीमद् उदयनाचार्य की अद्भुत विद्वता और लोकोत्तर तर्कशैलीसे परिचय प्राप्त करेगी।

हिन्दी भाषा में "न्यायकुसुमाञ्जलि" का सरल व्याख्यान करके शास्त्री जी ने राष्ट्रभाषा का जो गौरव बढ़ाया है उसके लिये संस्कृतज्ञ विद्वन्मण्डली उनकी सदैव कृतज्ञ रहेगी। हमें पूर्ण आशा है कि लेखक के अतुलनीय परिश्रम से देशवासी जनता को बहुत अधिक लाभ होगा और प्राचीन ग्रन्थों की उपयोगिता प्रमाणित होगी।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि विद्वान् लेखक को दीर्घ आयुः तथा शक्ति प्रदान करें जिससे वे अन्य प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों का भी हिन्दी व्याख्यान करने में सफल हो सकें और राष्ट्रभाषा का भण्डार भर कर कीर्ति प्राप्त करें। यशस्वी लेखक को पुनरपि हार्दिक धन्यवाद है।

अगस्त्य आश्रम
काशी

ढुंढिराज शास्त्री
न्यायाचार्यः

प्रस्तावना

वर्तमान युग में विचारधारा का प्रवाह सर्वथा भौतिक विज्ञानवाद की भूमियों की ओर ही प्रवाहित होरहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रवाह बौद्ध काल में अत्यन्त वेग से चलता रहा है। बड़े २ बौद्ध विचारक अपने २ समय में नास्तिक्य की भावनाओं को उग्र से उग्रतर और उग्रतर से उग्रतम रूप देने में ही अपने समस्त बुद्धि कौशल का प्रयोग करते रहे हैं। प्रत्येक बौद्ध विद्वान् यही सिद्ध करता रहा है कि-इस जगत् का रचयिता कोई ईश्वर नहीं है, यह जगत् अपने आप इसी प्रकार का चला आ रहा है, इस की कभी उत्पत्ति नहीं हुई और कभी संहार नहीं होगा। न केवल ईश्वर ही नहीं है किन्तु जीवात्मा नाम का कोई तत्व भी शरीर से अतिरिक्त नहीं है जब ईश्वर ही नहीं है तो वेद भी प्रमाण नहीं है। वेद प्रतिपादित कर्तव्य अकर्तव्य भी प्रमाण नहीं है। यह नास्तिकता का त्रिशूल, भारत की अपनी भूमि पर भारत के अपने पुत्रों के द्वारा ही प्राचीन वैदिक संस्कृति की छाती पर निरन्तर कई सौ वर्ष तक चलाया जाता रहा।

इस त्रिमुखी नास्तिकता का प्रवाह सबसे पहिले गोतम बुद्ध ने चलाया उसके पश्चात् उनके शिष्यों ने और उनके पश्चात् उनके शिष्यों ने चलाया। इस प्रकार शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा चलाया हुआ यह प्रवाह भारत के कोने कोने में फैल गया। तक्षशिला का प्राचीन वैदिक विश्वविद्यालय-बौद्ध उपदेशक महाविद्यालय बन गया। जहां से पाणिनि पतञ्जलि और वात्स्यायन जैसे वैदिक विद्वान् मुनिवर निकला करते थे वहां से असंग, वसुबन्धु और स्थिरमति जैसे नास्तिक निकलने लगे। यही दशा नालन्दा आदि अन्य वैदिक विश्वविद्यालयों की हो गई थी। विहार प्रान्त बौद्ध विचारधारा का

क्रीडाक्षेत्र बना हुआ था। यत्र तत्र और सर्वत्र नास्तिकता ही नास्तिकता दिखाई देती थी। गृहे २ यदि कोई चर्चा थी तो केवल यही थी—कि आत्मा नहीं है, परमात्मा नहीं है, वेद का प्रमाण्य नहीं है। न केवल सर्वसाधारण अपितु बडे २ विद्वान् भी इसी विचारधारा के प्रवाह में वेग से बहे जा रहे थे।

नास्तिकता के प्रचार के लिये जहां उच्चकोटि के महाविद्यालय चल रहे थे और विद्वान् प्रचारक बनाये जा रहे थे वहां साहित्य के निर्माण का कार्य भी सुचारु रूप से चल रहा था। नागार्जुन की माध्यमिक कारिका ने शून्यवाद का अभेद्य दुर्ग बना कर खडा कर दिया था। वैभाषिक बौद्धों के परम गुरु द्वितीय बुद्ध आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्म कोश लिख कर बौद्ध दर्शन का मार्ग निष्कण्टक सा कर दिया था। जिस के प्रवल प्रताप से चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया आदि देशों में बुद्ध धर्म का प्रसार हो चुका था। गान्धार देश के इस वसुबन्धु के ज्येष्ठ बन्धु आर्य असंग ने बौद्ध योगाचार सम्प्रदाय का प्रधान आचार्य होने के नाते विज्ञानवाद का विशाल राज भवन निर्माण कर दिया था। आर्य असंग के अद्वितीय ग्रन्थों विशेषतः योगाचारभूमि शास्त्र और महायान सूत्रालंकार की बडे २ विद्वानों पर धाक जम चुकी थी। आचार्य वसुबन्धु की लिखी विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि ने विज्ञानवादी विचारधारा को इतना सुप्रतिष्ठित कर दिया था कि किसी भी विद्वान् को बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन करने का साहस नहीं होता था। किं बहुना आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, स्थिरमति आदि के लिखे हुए प्रमाण समुच्चय, प्रमाण वार्तिक और मध्यान्त विभाग सूत्रभाष्य तथा आर्य कीर्ति, चन्द्रकीर्ति, भावविवेक और शान्तरक्षित जैसे महान् बौद्धों के दार्शनिक ग्रन्थ संसार के सामने आचुके थे।

इधर वैदिक संस्कृति के संरक्षक भी वैदिक विचारधारा की रक्षा करने में संलग्न थे उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र ने विहार प्रान्त के मिथिला प्रदेश को अपना कार्य क्षेत्र बनाकर बौद्ध विचारकों की आपत्तियों का उत्तर देना आरम्भ कर दिया था। शबर स्वामी और कुमारिल भट्ट ने दक्षिण दिशा में केन्द्र स्थापित करके वेदोक्त मर्यादाओं का पुनरुद्धार करने के लिये मीमांसा दर्शन की व्याख्यायें

लिखडाली थीं। उत्तर भारत में काश्मीरी पंडित आचार्य जयन्त भट्ट ने भारतभरमें भ्रमण करके बौद्धों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारने का श्री गणेश कर दिया। जयन्त भट्ट की अद्वितीय कृति 'न्यायमञ्जरी, ने बौद्ध कैम्प में खलबली मचा रखी थी। आचार्य शंकर ने अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण कर नास्तिक मतों को भारत से निकल जाने का आदेश दे दिया था तथा स्थान २ पर शास्त्रार्थों में बौद्धों को पराजितकरने में भारी सफलता प्राप्त करली थी।

इतना कुछ होनेपर भी बौद्ध विचाराधारा निरंतर बढती ही जा रही थी। बौद्ध कृतियोंका प्रभाव वैदिक विद्वानोंपर भी पडरहा था। बडा विचित्र संघर्ष था एक विद्वान निज पक्षकी पुष्टिमें कुछ लिखता, तो दूसरा तत्काल उसका प्रतिवाद करनेकेलिये लेखनी उठाने लगता ऐसा समय आगया कि बौद्ध और वैदिक दोनों ही सिर धड की बाजी लगा कर अपने २ सिद्धान्तों की रक्षा करने में जुटे हुए थे।

यह विक्रम की दसवीं शताब्दी की बात है। बौद्ध विद्वान महा पंडित रत्नकीर्ति ने अपोह सिद्धि तथा क्षणभंग सिद्धि आदि ग्रन्थ लिखकर वैदिक विचारधारा के संरक्षक गुरुवर त्रिलोचन तथा उन के सुप्रसिद्ध शिष्य सर्वतंत्रस्वतन्त्र न्यायम्भोनिधि वाचस्पति मिश्र की सर्वतोमुखी विद्वत्ता का उपहास करने का साहस किया।

प्रसिद्ध बौद्ध आर्यकीर्तिने भी वाचस्पतिकी न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका की समालोचना करके धर्मोत्तराचार्य का पक्षपोषण किया परिणाम यह हुआ कि वाचस्पतिमिश्रकी प्रबल युक्तियोंकी प्रबलता सन्दिग्ध हो गई। विद्वत्सभामें न्यायचर्चा के समय आर्यकीर्ति और रत्नकीर्ति की ही कीर्तिपताका फहराने लगी तथा वाचस्पति मिश्र के वचनों का उपहास किया जाने लगा। यह दसवीं शताब्दी के अन्त की घटना है—उन्हीं दिनों न्यायाचार्य उदयनाचार्य का सूर्य उदय होकर मिथिला के आकाश पर चमकता दिखाई दिया था।

उदयनाचार्य के रचे ग्रन्थ

(१) न्याय कुसुमाञ्जलि—यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनुपम ग्रन्थ है। समस्त संस्कृत साहित्य में ईश्वर सिद्धि पर सांगोपांग व्याख्यान और नास्तिकों की सभी प्रबल शंकाओं का समाधान

करने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है। इस में चार्वाक, बौद्ध, जैन, प्रकृतिवादी, अद्वैतवादी और मीमांसकों के प्रबल आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर देकर अन्त में प्रभाव शाली अनुमानों के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध की गई है। इसके साथ ही प्रसंगवशात् न्यायशास्त्रके बहुतसे प्रसिद्ध सिद्धान्तोंका भी वर्णन किया गया है।

इस में नास्तिकों की पांच विप्रतिपत्तियों को उद्धृत करके एक एक विप्रतिपत्ति का एक एक स्तवक में समाधान किया गया है। समाधान ऐसी योग्यता और विद्वत्ता के साथ किया गया है कि एक सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर भी आज तक किसी भी नास्तिक को इस के खण्डन करने का साहस नहीं हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि जो युक्तियें आज के युग में नास्तिकों के द्वारा साइंस वा विज्ञान के आश्रय से दी जाती हैं उन सब युक्तिओं का इस ग्रन्थ में एक सहस्र वर्ष पहिले ही पूर्वपक्ष में रख कर समुचित समाधान कर दिया गया है।

ग्रन्थ श्लोकबद्ध कारिकाओं में लिखा गया है। विषय अत्यन्त गम्भीर होने के कारण आचार्य ने स्वयम् अपनी कारिकाओं की विस्तृत व्याख्या की है। इस व्याख्या को सर्वथा स्पष्ट करने के लिये बडे बडे नैयायिक विद्वानों ने संस्कृत में व्याख्यान लिखे हैं। विशेषतः वर्धमान उपाध्याय का 'प्रकाश' और रुचिदत्त उपाध्याय का 'मकरन्द' बडे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त शंकर मिश्र, गदाधर भट्टाचार्य, रघुनाथ शिरोमणि, भगीरथ ठक्कुर और हरिदास भट्टाचार्य आदि प्रकाण्ड पण्डितों ने अपनी २ वृत्तियें और विवृत्तियें लिखी हैं जो सबकी सब प्रायः नव्य न्याय की भाषा में संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं।

यह ग्रन्थ इतना प्रामाणिक और उपयोगी है कि काशीकी न्यायाचार्य तथा कलकत्ता की न्यायतीर्थ और मद्रास की शास्त्री आदि परीक्षाओं में निर्धारित है। इसी न्यायकुसुमाञ्जलि का हिन्दी व्याख्यान आपके हाथ में है।

(२) आत्मतत्त्वविवेक– इसका दूसरा नाम बौद्धधिकार है कोई बौद्धधिकार भी कहते हैं। इसके चार परिच्छेद हैं। प्रत्येक परि-

च्छेद में बौद्धों के एक एक प्रसिद्ध सिद्धान्त का सविस्तर उत्थापन करके समुचित उत्तर दिया गया है। ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है– आत्मा का यथार्थ स्वरूप और आत्मा की नित्यता। इसमें भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार न करने वाले नास्तिकों की मुख्य चारों विप्रतिपत्तियों को सन्मुख रख कर एक २ परिच्छेद में एक २ का उत्तर देकर आत्मा की अविनाशी सत्ता सिद्ध की गई है।

पहिले परिच्छेद में सौत्रान्तिक और वैभाषिक बौद्धों के आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। साथ ही क्षण भंगवाद के मूल सिद्धान्त पर विस्तृत विचार करके पदार्थ मात्र की क्षणिकता का खण्डन किया गया है और भावों की स्थिरता की सिद्धि करके आत्मा को स्थिर तत्व सिद्ध किया गया है।

दूसरे परिच्छेद में योगाचार बौद्धों के बाह्यार्थभंगवाद तथा विज्ञानवाद का निराकरण करते हुए बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता का निरूपण किया गया है और इसी लिये उसका कोई ज्ञाता भी अवश्य है—इस प्रकार ज्ञाता आत्मा की सत्ता सिद्ध की गई है।

तीसरे परिच्छेद में— गुण गुणी के भेद पर विचार करके यह सिद्ध किया गया है कि गुण और गुणी दो प्रथक पदार्थ हैं गुण गुणी नहीं है और गुणी गुण नहीं है। परिणामत ज्ञान और आत्मा का परस्पर भेद सिद्ध करके अद्वैतवादियों तथा विज्ञानवादी बौद्धों के 'आत्मा ज्ञानाभिन्नः' अर्थात् आत्मा ज्ञान से भिन्न कोई प्रथक तत्त्व नहीं है। इस सिद्धान्त का खण्डन करके आत्मा को गुणाधिकरण तथा गुणातिरिक्त द्रव्य सिद्ध किया गया है।

चौथे परिच्छेदमें अनुपलब्धि का समाधान किया है व जो लोग यह कहते हैं कि यदि आत्मा नाम का कोई तत्व होता तो घट पट आदि के समान किसी इन्द्रिय से उपलब्ध होता परन्तु नहीं होता, अतः आत्मा नहीं है — उनके दृष्टि कोण के दोषों पर विचार करके आत्मा की उपलब्धि में प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। साथ ही आत्मा के आकार प्रकार, बन्ध, मोक्ष, तथा आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध आदि अनेकों परमोपयोगी तत्वों का सविस्तर निरूपण किया गया है।

इस ग्रन्थ पर भी बड़े २ दार्शनिक विद्वानों के व्याख्यान उपलब्ध होते हैं। व्याख्याकारों में शंकर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, भगीरथ ठाकुर, गुणानन्द, गदाधर भट्टाचार्य तथा आत्रेय नारायणाचार्यादि विद्वानों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं।

यह ग्रन्थ भी न्याय की आचार्य आदि परीक्षाओं में पाठ्य पुस्तक के रूप में निरधारित हैं। इस उपयोगी ग्रन्थ का हिन्दी व्याख्यान भी हमने आरम्भ कर दिया है आशा हैं निकट भविष्य में यह ग्रन्थरत्न भी विद्वज्जनों और जिज्ञासु सज्जनों के कर कमलों में पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त करेगा।

(३) लक्षणावली—यह वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या हैं। इस में अनेक प्रकार के भौतिक विज्ञान के मौलिक तत्वों पर मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

(४) तात्पर्य परिशुद्धि— यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र न्यायाम्भोनिधि वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका की व्याख्या है। न्यायदर्शन के प्रामाणिक वात्स्यायनभाष्य पर बौद्ध विद्वान दिङ्नाग ने कड़ी आलोचना की थी जिसका मुह तोड उत्तर उद्योतकराचार्य ने न्यायवार्तिक लिख कर दिया था। यह देख बौद्ध मण्डली में विक्षोभ का सागर विक्षुब्ध हो उठा। दिङ्नाग के प्रधान शिष्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवर्तिक न्याय बिन्दु और वादनय आदि ग्रन्थ लिखकर न्यायवार्तिकपर प्रबल प्रहार किये। धर्मोत्तराचार्य ने न्यायबिन्दु की विशद टीका लिख कर न्याय दर्शन के वैदिक सिद्धातों का खण्डन करके न्याय वार्तिक की स्थिति को गहरा धक्का पहुंचाया। इन दोनों बौद्धाचार्यों-धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के आक्षेपों का उत्तर देने के लिये और उद्योतकराचार्य की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिये वाचस्पति मिश्र की अलौकिक विद्वत्ता सामने आई, जिसके पुण्य प्रताप से बौद्धोंका मायाजाल प्रकट हो गया और स्पष्ट होगया कि बौद्ध विचारकों के सारे हेतु हेतु नहीं किंतु हेत्वाभाष हैं और जनता को भ्रान्ति के गहरे गर्त में गिरने के लिये छल कपट का आश्रय लेकर लिखे गये हैं। बौद्धों के मायावादी माया जाल से जिज्ञासु मण्डल को बाहिर निकाल कर सत्य हेतु समूह के ज्ञान के द्वारा तत्वज्ञान का यथार्थ स्वरूप दिखाने में न्यायवार्तिक तात्पर्य

टीका ने बड़े उपकार का कार्य किया। जिस ने भी वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका पढ़ी है वह हमारेउपर्युक्त कथन का अवश्य अनुमोदन करेगा। सचमुच वाचस्पति मिश्र की टीका की सहायता के विना बौद्ध सिद्धान्तों को समझना और उनका यथार्थ उत्तर देने में सफल होना महान् कठिन कार्य है। दस वर्ष हुए जब भारत भूमि में एक रूस देशीय विद्वान् आया था—उसका शुभ नाम था चेरवेस्की संस्कृत का महान् पंडित और वक्ता था। बौद्ध दर्शन का पारदर्शी और कई पुस्तकों का अनुवादक तथा प्रकाशक भी था। चेरवेस्की ने काशी में व्याख्यान देते समय कहा था कि "मैं वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका पढने के लिये यहां आया हूं। मेरा दृढ विश्वास है कि बौद्ध दर्शन को ठीक ठीक समझने के लिये वाचस्पति का अध्ययन करना परम आवश्यक है।"

किं बहुना, वाचस्पति मिश्र की अलौकिक विद्वत्ता और अद्भुत युक्ति कौशल तथा प्रभावशालिनी विषय प्रतिपादन शैली संसारी प्रसिद्ध है समय आया और बौद्ध जगत् में वाचस्पति मिश्र की टीका के खण्डन की वलवती इच्छा जागृत हो उठी। दो विद्वान् उठे—एक का नाम था आर्यकीर्ति और दूसरे का नाम रत्नकृति। इन दोनों ने एक दूसरे से बढ चढ कर तात्पर्य टीका पर हास्यजनक आक्रमण करने आरम्भ किये। विद्वानों में पुनः भ्रान्ति उत्पन्न हो गई। आवश्यकता प्रतीत हुई कि इन मायावी मेघमालाओं को तितर वितर करके वैदिक आस्तिक्यवि चार धारा के सूर्य के दर्शन कराये जावें। उदयनाचार्य ने इस महान् कार्य का भार अपने बलवान् कन्धों पर धारण किया और अत्यन्त परिश्रम से वाचस्पति मिश्र की तात्पर्य टीका की व्याख्या लिख कर बौद्धों को सदा के लिये निरुत्तर कर दिया। यह टीका ही 'तात्पर्य परिशुद्धि' के नाम से विख्यात है।

(५) किरणावली— वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद नाम से प्रसिद्ध भाष्य है जिस में दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों को सन्मुख रख कर स्वतन्त्र रीति से व्याख्या की गई है। भाष्य बहुत संक्षिप्त परन्तु गम्भीर भावों से भरा हुआ है। यद्यपि उसके स्पष्टीकरण के लिये कई विद्वानों ने प्रयत्न किये हैं, और अपनी २ व्याख्यायें

लिखी हैं—यथा श्रीधर की 'न्यायकन्दली' व्योमाचार्य की 'व्योमवती' तथा अन्य विद्वानों की 'सूक्ति 'सेतु' आदि। तथापि जो सन्मान उदयनाचार्य की किरणावली को प्राप्त है वह किसी और व्याख्या को प्राप्त नहीं हो सकता है। किरणावली प्रशस्तपादभाष्य का ही विस्तृत व्याख्यान है।

(६) न्याय परिशिष्ट— महर्षि गोतम के न्याय सूत्रों की यह एक स्वतन्त्र वृत्ति है जिसमें न्याय के मुख्यसिद्धान्तों की मौलिक व्याख्या की गई हैं। इस के अध्ययन से न्याय के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है और कई क्लिष्ट प्रकरण अनायास ही स्पष्ट हो जाते हैं।

उदयनाचार्यके रचे ग्रन्थों में इन छह ग्रन्थों का ही पता लगा हैं यदि और कोई ग्रन्थ भी उन की कृति से सम्बन्ध रखने वाला होगा तो विद्वानों और प्रकाशकों के प्रयत्नों से अवश्य ही प्रकाश में आ जावेगा।

उदयनाचार्य का चरित्र

उदयनाचार्य के जीवन चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने वाले क्षेत्रों का केवल इतना ही कथन हैं कि ये द्वारवंग (दरभंगा) मंडलान्तर्गत 'करियौन' नामक ग्राम के निवासी मैथिल ब्राह्मण थे। इस ग्राम में आज भी उदयनाचार्य के वंशज आचार्य उपाधि से विभूषित पाये जाते हैं। आचार्य ने दर्शन और साहित्य में विशेष पांडित्य प्राप्त करके कई वर्ष तक पाठन कार्य किया और अनेकों विद्यार्थियों को न्याय शास्त्र का पारंगत विद्वान् बना दिया था। बडे ही सरल प्रकृति के साधु स्वभाव के ब्राह्मण थे। आस्तिकता और ईश्वर विश्वास तो इनमें कूट २ कर भरा हुआ था अपनी आयु के यौवन काल में बडे २ प्रसिद्ध नास्तिकों से शास्त्रार्थ करते रहे और समय निकाल कर ग्रन्थ रचना का कार्य भी करते रहे। इन की विद्वत्ता और वक्तृत्व कला में बडा विचित्र और अद्भुत प्रभाव था जो कोई संसर्ग में आता था वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। बडे बडे नास्तिक भी इन की प्रबल युक्तियों का लोहा मान कर आस्तिक हो जाते थे। अपनी आयु के स्वल्प काल में ही इनकी कीर्तिपताका चारों दिशाओं में फैल गई

थी और नास्तिक मण्डल, आचार्य के सामने आने में घवराता था। उनकी तर्क शैली बडी ही विचित्र और विश्लेषणात्मक थी। किसी भी बात को खोद खोद कर उसके मूल तक पहुंच जाते थे और ऐसे ऐसे दोष निकालते थे कि प्रतिवादी का धैर्य छूट जाता था। किसी भी सिद्धान्त के भीतर घुसकर कल्पना का ऐसा प्रवाह वहा देते थे कि वैदिक सिद्धान्तों पर आक्षेप करने वाले को लेने के देने पड जाते थे। उसकी स्मृति भ्रष्ट हो जाती थी और वह भौंचक्का हो कर शास्त्रार्थ के क्षेत्र से भाग जाता था या परास्त होकर हार मान लेता था। यदि आपकी इच्छा उनकी तर्क शैली का चमत्कार देखने की हो तो न्याय कुसुमाञ्जलि के कुछ प्रकरण और समूचा आत्मतत्वविवेक अवश्य देखने का कष्ट सहन करें। निश्चय से आप को हमारी सम्मति से अपनी सहमति प्रकट करनी पडेगी।

भविष्य पुराण परिशिष्ट कथा

उदयनाचार्य के प्रभाव के विषय में एक किम्वदन्ती आज तक चली आरही है जिसमें कहा गया है कि परम आस्तिक उदयनाचार्य जगन्नाथपुरी गये थे वहां उनके साथ वहुत बुरा व्यवहार किया गया था जिससे रुष्ट होकर आचार्य ने जगन्नाथ को झाड तथा फटकार डाली थी जिस पर जगन्नाथ जी मन्दिर के कपाट फाड कर आचार्य के सामने प्रकट हुए थे इत्यादि। पुराण के श्लोक उधृत न करके केवल हिन्दी में उस का भाव दिया जाता है। कथा इस प्रकार है—

"अब हम आप को हरिके तृतीय अंश स्वरूप महान् बुद्धिमान् उदयनाचार्य का प्रभावशाली अद्भुत चरित सुनाते हैं। उसने मिथिला देश में जन्म लेकर सभी शास्त्रों का विशेषतः न्यायशास्त्र का ध्यान से अध्ययन किया और ऐसा विद्वान् हो गया कि सभी लोग उसको साक्षात् गौतम मुनि ही मानने लगे। उसने बौद्ध सिद्धान्तों के भ्रमजाल में फंसे हुए लोगों के कल्याण के लिये किरणावली की रचना की। एक बार कोई बौद्ध आचार्य अपने शिष्यों को साथ लेकर राजा की राजधानी में बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिये आया। आते ही उसने अपने किसी शिष्य को दूत बना कर मिथिलेश राजा को दर्पवशात् सूचना दी कि राजन्! तू बुद्धिमान्

और विचार शील होकर भी वेद शास्त्र के भ्रम जाल में क्यों फंसा हुआ है ? यदि तेरे राज्य में कोई वेद शास्त्र का विद्वान् ब्राह्मण है तो उसको बुलाकर मेरे साथ शास्त्रार्थ कराओ और जो सिद्धान्त सत्य प्रतीत हो उसको स्वीकार कर ।"

"तब राजा ने उदयनाचार्य तथा अन्य विद्वानों को बुलाया और उन सबसे भारी सभा में यह कहा कि देखो यह महान् नास्तिक बौद्ध हमारी राजधानी में आया है यह आत्मा परमात्मा और वेद-शास्त्र को नहीं मानता हैं । इसके साथ शास्त्रार्थ करो । यदि आप लोग हार जाओगे तो आप सब को और मुझ को तथा मेरी सारी प्रजा को बौद्ध मत स्वीकार करना पडेगा और यदि आप जीत गये तो मैं आप की आयु पर्यन्त सेवा करूगा और आपको राजगुरु मानूंगा । यह सुनकर उदयनाचार्य ने कहा–राजन् ! जय व पराजय तो हरि की इच्छा पर हैं आप निश्चिन्त होकर हमारा पराक्रम देखें । विवाद प्रारम्भ हुआ । बौद्ध ने देखा कि कई दिन हो गये हैं उदयनाचार्य को पराजित करना वडा कठिन कार्य है अपनी ही हार शीघ्र होनें वाली है अतः उसने एक महाश्चर्य प्रदायिनी माया फैलाने का निश्चय किया । बौद्ध बोला राजन् ! शालग्राम की शिला में हरि विराजते हैं मैं अपने मत के प्रभाव से इस शिला को खण्डित करके और पानी की वाष्प के समान बनाकर उडादूं और अदृश्य करदूं तो मेरा मत सत्य होगा । यदि ऐसा न कर सकूं तो झूटा हूंगा और यदि उदयनाचार्य अपने मत के प्रभाव से अदृश्य शिला को पुनः जलवत् करके फिर शिला की मूर्ति को जैसे का तैसा बना दे तो उदयनाचार्य का मत सत्य होगा ।"

"यह सुन कर उदयनाचार्य ने कहा राजन् ! यद्यपि यह तो इस बौद्ध की माया (हाथ की चालाकी) है ऐसी माया का धर्म के निर्णय के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तथापि बौद्ध को इस क्षेत्र में भी परास्त करना आवश्यक मानते हुए मैं शिला को पुनः शिला बना कर दिखा सकता हूं । जब बौद्ध ने शिला को पानी की वाष्प समान बनाकर उडादिया और उदयनाचार्य ने पुनरपि शिला बना दिया तो फिर यह प्रश्न नये सिरे से उठ खडा हुआ कि किस का मत सत्य है क्योंकि दोनों ने अपना २ चमत्कार पूरा दिखाया था। यह देख कर उदयनाचार्य ने कहा कि आपके निर्धारित नियम को

मैंने स्वीकार किया था और अपने मत की सत्यता प्रमाणित कर दी है अब आप भी मेरी बात को स्वीकार करके अपने मत की सत्यता को प्रमाणित करें। यह देखो सामने तालवृक्ष खडा है। इस पर चढ कर आप भी भूमि पर छलांग लगाओ और मैं भी लगाऊंगा। जिसका मत सत्य होगा उसको चोट नहीं आयेगी। "मैं वेद सत्य हैं"—यह उच्चारण करके वृक्ष से गिरूंगा और आप "वेद प्रमाण नहीं है"—यह कह कर गिर पड़ें। राजा ने इस परीक्षा का सहर्ष अनुमोदन किया। उदयनाचार्य ने राजा को इतना और कहा कि गिरने पर जो मर जावे उसकी धर्मपुस्तकों को नदी में प्रवाहित कर उस मत के मानने वालों को कठोर दण्ड देना और जीते बच जाने वाले के मत को स्वीकार करके राज्यधर्म बना देना आपका कर्तव्य होगा। राजा ने इसे भी स्वीकार कर लिया। बौद्ध को भी लज्जावशात् वृक्ष से कूदना स्वीकार करना पडा।"

"दोनों प्रतिज्ञा करके तालवृक्ष पर चढ़ गये। उदयनाचार्य ने 'वेदाः प्रमाणम्" कह कर परमेश्वर का ध्यान करते हुए छलांग लगादी और बडे आनन्द के साथ प्रसन्न मुख होकर भूमि से स्वस्थ ही उठ खडा हुआ परन्तु बौद्ध ने "वेदाः अप्रमाणम्" कह कर जो छलांग लगाई तो सिर के भार भूमि पर गिरा और उसकी गरदन टूट गई तथा सिर फूट गया और मृत्यु हो गई। यह चमत्कार देख कर राजा और दर्शक वृन्द बडे प्रसन्न हुए और उदयनाचार्य की प्रशंसा करने लगे। राजा ने सारे मिथिला प्रान्त में वैदिक धर्म का प्रचार करा दिया और उदयनाचार्य की सेवा में कई ग्रामों की आय लगा दी तथा उनको राजगुरु घोषित कर दिया।"

"एक बार उदयनाचार्य, जगन्नाथ के दर्शनों की इच्छा से पुरुषोत्तम पुरी में पहुंचा। वहां जाकर तीर्थ जल में स्नान करके देवदर्शन के लिये जब मन्दिर के सामने आया तो मन्दिर के द्वार बन्द पाये। दूसरे द्वार से प्रविष्ट होने लगा तो वह भी बन्द पाया तीसरे द्वार पर पहुंचा तो वह भी बन्द था तब चौथे द्वार पर पहुंचा परन्तु उसको भी बंद पाया। शतशः लोग वहां दर्शनार्थी विद्यमान थे और दर्शन करके लौट रहे थे। परन्तु पण्डे पुजारी सभी धनिकों को दर्शन कराते थे उदयनाचार्य जैसे सीधे सादे निर्धन ब्राह्मण को दर्शन नहीं हो रहे

थे। यह देखकर उदयनाचार्यको महान् आश्चर्य हुआ साथ ही जगन्नाथ पर क्रोध भी आया उसी रोषावस्था में उदयनाचार्य ने कहा—

जगन्नाथ सुरश्रेष्ठ भक्त्यहंकारपूर्वकम्
ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

"हे जगन्नाथ ! आप देवताओं में सबसे श्रेष्ठ हो। भक्तलोगों की भक्ति को देख कर बडे अभिमान में आ गये हो–किसी आये का ध्यान ही नहीं कर रहे हो। ऐश्वर्य में इतने मदोन्मत्त हो गये हो कि मेरा भी अपमान करने लग गये हो। कुछ स्मरण भी है, जब बौद्ध तेरा खण्डन किया करते हैं कि जगत के नियन्ता का कोई अस्तित्व ही नहीं है तो ऐसे विकट समय में तेरी सत्ता की सिद्धि मेरे ही अधीन हुआ करती है यदि उदयनाचार्य ईश्वर सिद्धि की प्रबलयुक्तियें उपस्थित न करे तो ईश्वर की सत्ता में प्रमाण ही नहीं मिल सकता।"

"उदयनाचार्य के ऐसा कहने पर सब दर्शकों के देखते २ मन्दिर के कपाट अपने आप खुल गये और जगन्नाथ ने उदयनाचर्य को सन्मानित करके अपना पीताम्बर धारण कराया तथा लोगों को स्पष्ठ शब्दों में आदेश उपदेश दिया की यही वह उदयनाचार्य है जो बौद्धों के माया जाल से जनता को निकाल कर मेरी सत्ता की सिद्धि करता है इसकी सेवा और सन्मान करना सबका कर्तव्य है। जगन्नाथ की यात्रा से लौट कर उदयनाचार्य मिथिला पुरी में निवास करता रहा और वेद शास्त्रों के पठन पाठन के द्वारा अनेकों विद्यार्थियों को महान् पंडित और शास्त्रार्थ महारथी बनाता रहा। उसके बनाये अनेकों विद्वान् अब भी कुल परम्परा से मिथिला मण्डल में विद्यमान है। जब उदयनाचार्य बहुत वृद्ध हो गया तो काशी जा कर निवास करने लगा। काशी में ही मणिकर्णिका घाट पर एक दिन उसका देहान्त हो गया। उदयनाचार्य हरिका अंश था जो धर्म की संस्थापना के लिये तथा अधर्म के विनाश के लिये संसार में आया था।" भविष्य पुराण परिशिष्टे त्रिशोऽध्यायः।

इस लम्बे उद्धरण के उद्धृत करने से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि बौद्धों से शास्त्रार्थ करने और उन को परास्त करके

ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने में उदयनाचार्य की विशेष ख्याति थी और अपने समय में उनकी युक्तियों की सर्वत्र धाक जमी हुई थी।

उदयनाचार्य जैसे तार्किक शिरोमणि का जगन्नाथ की मूर्ति को ईश्वर मान कर दर्शनार्थ जाना तो सर्वथा असम्भव है क्योंकि उनके ग्रन्थों में वर्णित विचारों से यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वर को सर्वव्यापक तथा निराकार ही मानते थे। तथापि यह सम्भव हो सकता है कि वे साधारण जनता को भ्रम जाल में फस कर लूटने वाले लोगों के हथ कण्डे देखने के लिये जगन्नाथ पुरी गये हों और उन्होंने वहां जा कर यह देखना चाहा हो कि साधारण जनता के हृदय में परमेश्वर के सच्चे स्वरूप को जानने की योग्यता उत्पन्न हुई है कि नहीं। इतनी सी बात को बढा चढा कर कुछ का कुछ बना दिया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

उदयनाचार्य के मन्तव्य

महर्षि कणाद और गौतम के अनन्यभक्त होने तथा उनके दार्शनिक ग्रन्थों के व्याख्याता होने के कारण उदयनाचार्य के भी वही मन्तव्य थे जो गौतम और कणाद के हैं। यदि संक्षेप में गिनाने हों तो निम्न प्रकार से गिनाये जा सकते हैं यथा—

(१) वेद, ईश्वरीय कृति होने से स्वतः प्रमाण है।

(२) वेद, सर्वज्ञ परमेश्वर के रचे होने से सर्वज्ञान के भंडार हैं।

(३) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है।

(४) तत्वज्ञान के लिये साधर्म्य और वैधर्म्य का बोध होना परमावश्यक है—केवल साधर्म्यज्ञान से भ्रान्ति की ही उत्पत्ति होती है।

(५) आत्मा नित्य अविनाशी तत्व है और शरीर से पृथक सत्ता रखता है।

(६) ईश्वर जगत् का कर्ता है और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक है।

(७) जीवात्मा अपने कर्मों का फल स्वयम् नहीं प्राप्त कर सकता अतः आत्मा से अतिरिक्त परमात्मा भी है जो जीवों को कर्म फल प्रदान करता है।

(८) संसार की उत्पत्ति का मूल परमाणु हैं जो जगत् का

समवायि कारण हैं।

(९) परमाणु रूप उपादान कारण नित्य स्थिर तत्व हैं उनका नाश कभी नहीं हो सकता।

(१०) द्रव्य और गुण परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

(११) आत्मा, ज्ञान का अधिकरण एक चेतन तत्व है-ज्ञान स्वरूप अथवा ज्ञानमात्र नहीं है।

(१२) मोक्ष, दुःखों से सर्वथा छूट कर परमेश्वर में आनन्द मग्न हो कर रहने का नाम है। अश्मवत् जडता प्राप्त करने अथवा दीपक के बुझ कर नष्ट हो जाने के समान नहीं हैं।

(१३) जगत् और जागतिक पदार्थों की वास्तविक स्थिति है-जगत् स्वप्न के समान मिथ्या नहीं हैं।

(१४) ईश्वर स्वरूप से ही निराकार है-वह साकार और स-शरीर नहीं है। शरीरधारी व्यक्ति कभी परमेश्वर नहीं कहला सकता और न ही कोई शरीरधारी सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय करने में समर्थ हो सकता है।

(१५) जीवात्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता और दूसरे को त्याग कर तीसरे को ग्रहण करता है इस प्रकार कर्मफल भोगने के लिये पुनर्जन्म की व्यवस्था में बन्धा हुआ है।

(१६) संसार की समस्याओं के समाधान के लिये न तो एक-मात्र जड प्रकृति ही पर्याप्त है और न ही एक मात्र चेतन ब्रह्म ही-किसी भी एक कारण से निर्वाह नहीं हो सकता। अनेक कारणवाद ही सब समस्याओं का समाधान कर सकता है। अतः जडाद्वैतवाद अथवा चेतनाद्वैतवाद सर्वथा दोष युक्त हैं—इत्यादि।

उपर्युक्त सिद्धान्त उदयनाचार्य के ग्रन्थों में यत्र तत्र मन्तव्य रूप में स्वीकार किये गये हैं स्वाध्याय शील सज्जन यथा स्थान प्रकरणानुसार देख सकते हैं। ग्रन्थ विस्तार भय से यहां पृथक निर्देश नहीं किया गया।

कृतज्ञता प्रकाश

सबसे पहले मैं परमपिता परमात्मा की महती कृपा का कृतज्ञ

हूं जिसके निरन्तर प्रवाह से मैं विकट अज्ञातवास के भयंकर अठारह वर्ष सपरिवार सकुशल रहा और वैदिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों के गम्भीर स्वाध्याय का आनन्द लेते हुए सर्वथा सुरक्षित रहा।

महान् दार्शनिक और परम आस्तिक न्यायाचार्य उदयनाचार्य के गम्भीर भावों को समझ सकना तथा सर्वसाधारण की समझ के योग्य बनाना अत्यन्त कठिन कार्य था। परन्तु इस कार्य में योग्यता प्रदान करने की जो कृपा परम श्रद्धास्पद नैयायिक शिरोमणि गुरुवर श्री न्यायाचार्य रामकृष्ण भट्ट नवद्वीप निवासी ने की है उसके लिये मैं अत्यन्त नम्र भाव से कृतज्ञता प्रकाश करता हूं। सच तो यह है कि यदि आप की कृपा दृष्टि न होती तो मैं न्यायकुसुमाञ्जलि को जितना समझ सका हूं उतना भी न समझ सकता।

स्वर्गीय पं. विजयशंकर जी ज्ञानी बड़े ही स्वाध्याय शील विद्वान् थे। वे गत कई वर्षों से मुझे बम्बई बुलाते रहे थे। ईश्वर-सिद्धि आदि आध्यात्मिक विषयों पर मेरे व्याख्यानों को वे सदा ही बड़ी उत्सुकता और श्रद्धा से सुना करते थे। जब उनको पता लगा कि मेरे व्याख्यान 'न्यायकुसुमाञ्जलि' और 'आत्म तत्वविवेक' के आधार पर ही इतने प्रभावशाली तथा मनोरंजक होते हैं तो उन्होंने प्रबल आग्रह पूर्वक इन ग्रन्थों का हिन्दी व्याख्यान कर देने की उत्कट अभिलाषा अभिव्यक्त की और साथ ही आश्वासन दिया कि 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के हिन्दी अनुवाद को प्रकाशित कराने का भार वे स्वयम् उठाने को उद्यत हैं। उनकी उपस्थिति में ही सम्पूर्ण किया। समयानुसार वे इस व्याख्यान को सुन कर अपना सत्परामर्श भी दिया करते थे। इसी लिये उनकी इच्छा को मान्यता देते हुए कई प्रकरणों को वैदिक प्रमाणों से परिपुष्ट भी किया है। उनकी ही प्रबल इच्छा से मैंने उदयनाचार्य की प्रशस्ति में आठ श्लोक शारदूल विक्रीडित छन्द में रचकर सुनाये थे जो इस ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहे हैं।

मुझे हार्दिक दुःख है कि पुस्तक के प्रकाशित होने से पहिले ही उन का देहावसान होगया। मेरी कृतज्ञता का प्रकाश अब उन के आत्मा तक किसी प्रकार से नहीं पहुंच सकता – यह मैं मानता

हूं और भली प्रकार जानता हूं तथापि कर्तव्य बुद्धि से स्वर्गीय पंडित जी का मैं अवश्य धन्यवाद करता हूं और उनकी दिव्य प्रेरणा तथा आवश्यक सहायता प्रदान के लिये अपनी हार्दिक कृतज्ञता का प्रकाश करता हूं। परमपिता परमात्मा उन के आत्मा को सद्गति और चिर शान्ति प्रदान करे।

काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक, नैयायिकमूर्धन्य, न्यायाचार्य श्री पं. ढुंढिराज शास्त्रीजी महाराज का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं जिन्हों ने अतीव कृपा कर के इस पुस्तक की भूमिका लिखने का कष्ट उठाया है और अपनी शुभ सम्मतियुक्त आशीर्वाद से लेखक का उत्साह द्विगुणित किया है। आपने आज तक बीसियों विद्वानों को उदयनाचार्य के ग्रन्थों का पण्डित बना कर प्राचीन न्याय की ज्योतिः जगाये रखी है। आप के अनेकों शिष्य न्यायाचार्य की पदवी प्राप्त करके आप की कीर्ति पताका को देश के कोने २ में फहरा रहे हैं। आप की अगाध विद्वत्ता और अनुपम आस्तिकता को देखकर साक्षात् वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य की स्मृति सहसा जागृत हो जाती है। आप ने उदयनाचार्य के ग्रन्थों का संस्कृत में व्याख्यान प्रकाशित करके देववाणी की स्थायी सेवा भी की है। ऐसे अलौकिक विद्वान् और देवता पुरुष का इस पुस्तक की भूमिका लिखना बडे सौभाग्य और गौरव की बात है। आचार्य महोदय ने अपने बहुमूल्य शब्द लिखकर हमारा और हमारे हिन्दी अनुवाद का जो सन्मान बढाया है उस के लिये मैं अत्यन्त श्रद्धा के साथ कृतज्ञता प्रकाशित करता हूं।

आर्य समाज बम्बईके माननीय अधिकारीवर्गका भी मैं धन्यवाद करता हूं जिनकी कृपा और गुणग्राहकता से न्यायकुसुमाञ्जलि का यह हिन्दी व्याख्यान प्रकाशित होरहा है। यदि समाज के सिद्धान्त प्रेमी सज्जनों का आर्थिक सहयोग प्राप्त न होता तो इस प्राचीन वैदिक न्यायग्रन्थ का प्रकाशित होकर जनता के हाथ तक पहुंचना सर्वथा कठिन होजाता। अतः इस उपकार कार्य के लिये समाज के अधिकारी वर्ग का मैं हृदय से आभार मानता हूं।

हमारे कृपालु मित्र श्री पं. पद्मदत्त जी त्रिवेदी जी ने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से आवश्यक समय निकाल कर पुस्तक के छपाने और प्रूफ देखने तथा संशोधन करने का जो महान कष्ट उठाया है

उस के लिये मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूं। सच तो यह है की यदि आप की कृपादृष्टि न होती तो यह कार्य इतने सुचारू रूप से सम्पन्न न हो पाता अतः आप का पुनरपि धन्यवाद करता हूं।

पाठक महानुभाव ! एक बात आपसे भी अवश्य करनी है वह यह है कि – कहां उदयनाचार्य का गहन साहित्य सागर और कहां मैं एक अनुभव हीन तितीर्षु। मैं ने तैर कर पार होने का प्रयास मात्र किया है। इस प्रयास में कई भुल चूक हो गई होंगी आप ने कृपा कर गुण ग्रहण करना और डूबते को करुणा का हाथ बढा कर सहारा अवश्य देना। उपहास करने का विचार मन में मत लाना। आप का सत्यपरामर्श प्राप्त होने पर अगले संस्करण में हार्दिक कृतज्ञता के साथ प्रकाशित कर दिया जावेगा। अभी तो आप से केवल इतनी सी प्रार्थना है की इस पुस्तक को एकान्त में ध्यान लगा कर पढने की कृपा कीजये और अपनी भावनाओं से सूचित कीजिये। पुनरपि स्मरण कराता हूं –

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

अन्त में न्याय 'कुसुमाञ्जलि' के यशस्वी लेखक परम आस्तिक कविकल्प उदयनाचार्य की स्मृति में दो चार शब्द लिखकर श्लोक बद्ध करके अपने इस आवश्यक प्रस्ताव को समाप्त करता हूं।

(उदयनाचार्य प्रशस्ति पृष्ठ य से ल तक)

जगाधरी रोड, यमुना नगर
जि० अम्बाला

जगदीशचन्द्र
(दर्शनाचार्यः)

कुछ अपने विषय में

भारत के आकाश पर और भारतभूमि के प्रत्येक कण पर अंग्रेजी राज्य की छाप लगी हुई थी, देश का प्रत्येक निवासी पराधीनता और दासता की शृंखला में निबद्ध था। रामप्रसाद बिस्मल, सूर्य सेन और भक्तसिंह, राजगुरु आदि को फांसी दी जाचुकी थी. कुछ साहसी नवयुवकों ने इस राष्ट्रीय अपमान का बदला लेने की प्रतिज्ञा की और यह जानकर कि मैं मातृभूमिपर बलिदान होनेवाले उपर्युक्त शहीदों के अत्यन्त निकट रह चुका हूं वे युवक मेरे पास आये और मुझे नेतृत्व ग्रहण करने के लिए आग्रह करने लगे। मैं उन दिनों क्वेटा बलोचस्थान में चिकित्सा कार्य करता था। संगठन बन गया। सशस्त्र कार्य करने के लिये मैंने उनको आवश्यक सहयोग दिया। शस्त्र चालन की शिक्षा भी मैं ने ही दी। कार्यक्रम निर्धारित करके अभी प्रस्थान को उद्यत ही हुए थे कि किसी भेदिये के कारण पुलिस वाले आ पहुंचे। सब को लेकर गाडी में बिठाया और सियालकोट ले चले। निश्चय यह था कि सियालकोट पहुँचने से पहिले ही चलती गाडी में शूटिंग हो और सब भाग जावें। ऐसा ही हुआ। यह घटना ५ मई १९३१ की है। अगले दिन घटना का पूरा विवरण हमलोगों ने रामनगर (जम्मू राज्य) में पहुंचकर समाचार पत्रों में पढ़ा। तब से हम ने आत्मरक्षा के उपायों का अवलम्बन करना ही अपना ध्येय बनाया। ब्रिटिश पुलिस अपने सारे हथकण्डों के साथ हमारा पीछा कर रही थी। एक साथी रेलगाडी में ही रह जाने के कारण पकडा गया था। उस ने सब लोगों का पूरा २ पता पुलिस को बता दिया। अतः सब के वारण्ट और इनाम की घोषणा हो चुकी थी। हम लोग बारी बारी से आत्मरक्षा करते हुए पंजाब से निकलकर हरि के द्वार—हरिद्वार आ पहुंचे। तपस्वीजनों के वेश को धारण कर आत्मसंरक्षण हो रहा था। वहां पहुँचकर भगवती भागीरथी में स्नान करके मैंने तो सशस्त्र कार्यक्रम के विचार को सर्वदा के लिये त्याग दिया और उत्तराखण्ड में तपश्चर्या के लिये चला गया। दो वर्ष के पश्चात् मैं ने प्रभाखान और हंसराज के पकडे जाने का समाचार पढ़ा। समाचार के पढते ही तत्काल मैं ने उत्तराखण्ड का परित्याग कर दिया और कांगडा प्रदेश के बैजनाथ क्षेत्र में जा पहुँचा। पता लगा कि प्रभाखान को फाँसी दी जा चुकी है और हंसराज को काले पानी का दण्ड मिला है इत्यादि।

मैंने अध्यात्मचिन्तन और भगवद्भक्ति में ही लगे रहना श्रेयस्कर जान कर समय का सदुपयोग करना उचित समझा। कांगडे के सुदूर प्रदेश में भी अंग्रेजी पुलिस को मेरे विषय में सन्देह होते देख मैंने वहां से भी निकल जाने की योजना बना डाली। अगले दिन मैंने लम्बी पैदल यात्रा करने के अनन्तर रेल को पकड लिया और काठियावाड जा पहुँचा। वहां मैंने गुजराती भाषा सीखी और उपदेशों के द्वारा आध्यात्मिक जागरण के सन्देश सुनाने आरम्भ किये।

इस बीच मैं तीन चार बार अपने परिवार का कुशल समाचार जानने और धैर्य धारण कराने के लिये जंडियाला गुरु ज़िला अमृतसर भी जाता रहा और जो पत्र पुष्प मिलते थे देता रहा। एक दिन ऐसा हुआ कि विशेष योजना के अनुसार मेरा परिवार रावटी (रतलाम के निकटस्थग्राम) में जा पहुँचा और तब से मैं सपरिवार ईश्वर की छत्रछाया में सुरक्षित रहने लगा। बांसवाडा, कुशलगढ़ आदि स्थानों में रह कर ईसाई हुए सहस्त्रों भीलों को पुनरपि हिन्दु बनाने का कार्य किया। यहां रहते हुए ही मैं ने 'न्याय कुसुमाञ्जली' के आधारपर 'आस्तिक विचार' के नाम से एक पुस्तक लिखी और अपने परम मित्र पं. देवप्रकाशजी को उनके ही नाम से प्रकाशित करने को दे दी—जो कि १९३८ में प्रकाशित हो गई थी। अमृतसर के प्रसिद्ध हिन्दुसभाई नेता माननीय ज्ञानी पिण्डीदास जीं ने मेरे परिवार की रक्षा का जो गुप्त प्रवन्ध किया था उस के लिये मैं उन का सदैव कृतज्ञ रहूँगा और पं. देवप्रकाश जी ने जो मेरी रक्षा की योजना बनाई और पूर्णतः निभाई उस के लिये मेरा रोम रोम उन का कृतज्ञ है। उन की ही योजना के अनुसार मैं विलासपुर सी. पी. में दस वर्षों तक सपरिवार सुरक्षित रहा। बिलासपुर के निवास काल में ही स्वराज्य की घोषणा हुई और अपने को सर्वथा स्वतन्त्र देखने का दिन देखा।

इस अठारह वर्ष के कठिन अज्ञातवास में घोर दारिद्रय और भयंकर यातनायें भी सहन करनी पडी। अनेक नामों से अनेकरूपों में अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार के कार्यक्रमों का उपक्रम भी करना पडा—परन्तु ध्येय केवल एक यह ही था कि—

कभी वह दिन भी आयेगा जब अपना राज देखेंगे
जब अपनी ही जमीं होगी और अपना आसमां होगा।

वह दिन आगया और आये हुए भी ११ वर्ष हो गये हैं। अंडर ग्राउण्ड रह

कर इतने दीर्घकाल तक मैंने राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस की क्रियात्मिक सहायता करना ही अपना उद्देश्य बनाये रखा और यथा शक्ति कार्य करता रहा हूं। स्वराज्य के आने से लेकर आज तक परमेश्वर के अटल विश्वास पर मैंने केवल भारतीय प्राचीन संस्कृति के उद्धार के लिये यत्र तत्र भारत भ्रमण भी किया है। अब भी जो संस्था या समाज अथवा सज्जन आध्यात्मिक कथाओं और प्रवचनों के लिये, बुलाते हैं विना किसी भेदभाव के मैं अवश्य जाता हूं। अपने अज्ञात वास में मैंने उपनिषदों और न्याय वेदान्त का विशेष स्वाध्याय निरन्तर जारी रखा है और लेखन का कार्य भी सम्पन्न किया है। यह 'न्यायकुसुमाञ्जलि' का हिन्दी व्याख्यान उसी काल की एक स्मृति है। इसको जनता जनार्दन के कर कमलों में समर्पित कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। देखना चाहता हूं कि कितने सज्जन इस का मूल्यांकन करके अपनी गुणग्राहकता का परिचय देते हैं और प्राचीन दार्शनिक साहित्य का सन्मान करते हैं।

'न्यायकुमाञ्जलि' के यशस्वी लेखक प्राचीन नैय्यायिक श्रीमद् उदयनाचार्य की दूसरी अद्वितीय कृति 'आत्मतत्वविवेक' का हिन्दी अनुवाद भी प्रारम्भ कर दिया गया है। आशा है वह भी अगले वर्ष प्रेस में पहुंच जायगा।

जगदीशचन्द्र शास्त्री
(दर्शनाचार्य)

जगाधरी रोड
यमुना नगर जि० अम्बाला

उदयनाचार्य प्रशस्ति

[भावार्थ प्रत्येक श्लोक के नीचे दिया जाता है ।]

आत्मा नात्मविवेचनाय सुधियां 'बौद्धाधिकारः' कृतः
यस्मिन् बौद्ध विचारणातिकठिना प्रोद्धृत्य वै खंडिता ।
स्थैर्यं चापि सुसाधितं सुकृतिना येनैव जीवात्मनाम्
आत्मज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥१॥

जिसने विद्वज्जनों के हितार्थ आत्मा और अनात्मा का विवेचन कराने वाला 'आत्म तत्त्व विवेक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। जिस में बौद्ध विचारधारा के पोषक ग्रन्थों की युक्तियों का विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है और जीवात्मा के महत्व नित्यत्व तथा स्थिरत्व की अकाट्य युक्तियों के द्वारा सिद्धि की गई है। आत्मज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

नास्तिक्यस्य विनाशनाय सुतरां प्रामाण्य संविस्तरः
विम्लानो न विमर्दने सुरचितः 'न्यायप्रसूनाञ्जलिः'।
यस्मिन्नीश्वरसिद्धि साधकतमाः ग्रन्थीकृताः हेतवः
ब्रह्मज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥२॥

जिसने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने वाले नास्तिकों को परास्त करने के लिये प्रबलयुक्तियों से भरपूर तथा अकाट्य प्रमाणों से सम्पन्न प्रसिद्ध 'न्याय कुसुमाञ्जलि' नामक ग्रन्थ लिखा जिसका किसी नास्तिक ने आज तक उत्तर नहीं दिया। मुहंतोड प्रबल युक्तियों के प्रताप से बडे बडे बौद्ध और मीमांसक विद्वान शास्त्रार्थ के क्षेत्र में सदा पराजित होते रहे। उस ब्रह्मज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

शास्त्रार्थस्य कलानिधेः नयनिधेः मिश्रस्य वाचस्पतेः
तात्पर्यार्थं विमार्शिनीं सुकठिनामुद्धर्तुकामः सुधीः।
शुद्धार्थो 'परिशुद्धि मेव' विपुलां व्याख्यां च यो निर्ममे
न्यायाचार्य सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥३॥

न्याय शास्त्र के गूढ रहस्यों पर विस्तृत विचार करने के लिये

जिस महान् विद्वानने वैशेषिक दर्शनके प्रशस्तपाद भाष्यपर किरणावली नामक प्रसिद्ध व्याख्या लिखी और भाव तथा अभाव के तत्वों का स्पष्टीकरण करके विद्वानों की भ्रान्तधारणाओं का प्रबल खण्डन किया। उस धर्मज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

योऽनूचानतमः प्रशस्तविषयान् व्याख्यातुकामो महान्
विस्पष्टां 'किरणावलीं' विरचयामासाथ वैशेषिके।
भावाभावविभावनाय विदुषां योऽखण्डयत् कल्पनाः
धर्मज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥४॥

तर्क शास्त्र के प्रामाणिक विद्वान् न्यायविद्या वारिधि श्री वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका का उद्धार करने के लिये जिस ने बौद्ध विद्वानों के प्रबल आक्षेपों का महत्वशाली उत्तर देकर 'परिशुद्धि, नामक प्रसिद्ध विस्तृत व्याख्या लिखी। उस न्यायज्ञान के पारंगत तर्क धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

बौद्धाः येन पराजिताः बुधवराः श्रीरत्नकीर्त्यादयः
अन्ये चापि विमर्दिताःकृतधियो विज्ञानगोम्यादयः।
मीमांसानिपुणाः जिताश्च कुशलाः सांख्यास्तथाद्वैतिनः
वेदज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥५॥

जिस का नाम सुनकर बुद्ध के अनुयायी सिंह कहलाने वाले प्रकाण्ड बौद्ध भी गीदड के समान भाग जाते हैं। और बढ बढ कर बातें बनाने वाला चार्वाक भी जिसके साथ शास्त्रार्थ करने से घबराता हुआ दूर से ही भौंका करता है और जिसके दर्शनमात्र से जैन विद्वान् अपना निवास स्थान छोड का कहीं चले जाते हैं। उस वेदज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

यन्नाम श्रवणात् तथागतबुधःसिंहः शृगालायते
चार्वाकस्तु न संसदि प्रसहते यं दूरतो बुक्कते।
यं दृष्ट्वा च दिगम्बराः जिनवराः स्थानं त्यजन्ति क्षणात्
तर्क ज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥६॥

जिसने श्री रत्नकीर्ति और महापण्डित अशोक जैसे बौद्ध विद्वानों को पराजित किया तथा विज्ञानगोमी आदि अन्य बौद्ध विद्वानों को भी लोहे के चने चबवाये। जिसने बडे बडे प्रसिद्ध

मीमांसकों, सांख्यों और अद्वैतवादी वेदान्तियों को अनेकों शास्त्रार्थों में परास्त् किया। उस सत्य ज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार है।

एकस्मिन् समये जगाम ह जगन्नाथस्य वै मन्दिरम्
यं दृष्ट्वा तु न कोऽपि तस्य कुशलं क्षेमं तथा पृष्टवान्।
दृष्ट्वा रोषमुपागतः प्रभुजगन्नाथं न सेहे तदा
भक्तिज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥७॥

भविष्य पुराण में लिखा हैं कि-वह एक वार श्री जगन्नाथ के दर्शनों है लिये यात्रा करते हुए पुरी पहुंचा वहां उसको देख कर किसी पण्डे पुजारी ने उसका कुशल क्षेम तक न पूछा। जगन्नाथ के स्थान पर अपना अममान होता हुआ उससे देखा न गया। उसने क्रोद्ध होकर जगन्नाथ को फटकारा—उस विद्याज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को नमस्कार हैं।

रुष्ट्वोच मदान्धमत्त, जगतांनाथस्य का ते गतिः
बौद्धेषु ह्युपसंस्थितेषु च सदा मय्याश्रिता ते स्थितिः।
तच्छ्रुत्वातु कपाट पाठनपटुः स्थानात् बहिश्चागतः
मानज्ञान सुधन्वनेऽप्युदयनाचार्याय तस्मै नमः ॥८॥

रोष में आकर उसने कहा—अरे ओ, मदान्ध जगन्नाथ, बडे मत्त हो गये हो। कुछ स्मरण भी हैं, जब बौद्ध लोग तेरी सत्ता का खण्डन किया करते हैं उस समय उनकी युक्तियों का खण्डन करके तेरी (ईश्वर की) सिद्धि मेरे ही आधीन होती हैं। यह सुन कर श्री जगन्नाथ जी, मन्दिर के कपाट तोड कर स्वयम् दर्शन देने के लिये मन्दिर से बाहिर आ गये। ऐसे भक्तिज्ञान के धनुर्धारी श्रीमत् उदयनाचार्य को बारम्बार नमस्कार है।

शुद्धि अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२४	श्रोत	स्रोत
४	२५	ठठें	ठाठें
५	१९	मंनति	मनन्ति
११	४	होने	होने से
१२	१२	कहा	कहो
२०	९	कारणवाद	कारणवादी
२४	१०	प्रतिशयं	अतिशयं
२५	१	आमा	आत्मा
२७	४	प्रतिबन्ध का भाव	प्रतिबन्धकाभाव
३२	४	कता	कर्ता
३३	१५	स्थिर	स्थिरे
४३	४	तच्छुक्त	तच्छक्त
४८	२०	स्त्रोतों	स्रोतों
५०	६	पश्चरणादि	तपश्चरणादि
५४	२	शाविदक	शाब्दिक
५५	२४	ईश्वरी	ईश्वरीय
५८	२९	चू	चूना
६१	२२	के	के लिये
६३	११	आधीन	अधीन
६६	७	योग्य उपलब्धि	योग्यानुपलब्धि
६६	११	अयोग्य उपलब्धि	अयोग्यानुपलब्धि
७०	२७	स्यां	तस्यां
७२	१	को वकता	की वक्रता
७३	१६	प्रकाश	आकाश

७५	२९	अ ख	आंख
७७	१४	होते	देते
८९	२७	माप्ट	माप्त
९३	१०	के	को
९५	१९	मान भास	मानाभास
९६	१९	अन्य	अन्या
९६	२१	आश्रयसिद्धि	आश्रयासिद्धि
१०४	७	अदिन	अपि न०
१०४	१४	पृथियवीद	पृथिवी आदि
१०४	२०	ही	है
१०८	६	श्रता	श्रुता
१०८	१३	लक्षण	लक्षणा
११०	१५	परिच्छेद	परिच्छेदे
१३२	१५	जनाप्त	जनास
१३८	३१	ही	नहीं
१३९	१२	के ई	कोई
१४१	२४	किया	किया जावे
१४२	५	अधन	अर्थेन
१४४	११	के	ही
१४४	२६	व्यक्ति	व्यक्ति को
१४५	१८	रहते	रहे
१४६	६	साप	सीप
१४७	२०	से ओर	ओर से
१५९	७	विसषणम्	विभूषणम्
१६८	११	प्रयत्न	प्रत्यय
१६८	१२	शब्देनात्त	शब्देनात्र
१७१	२३	हीयन्था	यहां
१७६	८	महत्व	महत्
१७८	३	कृताकत	कृताकृत
१८४	३	स्वगादिवत्	स्वर्गादिवत्
१८७	१३	गुप्त	गुरु

ओ३म्

॥ परमेश्वरायनमः ॥

श्रीमद्उदयनाचार्य प्रणीतः

न्याय कुसुमाञ्जलिः

लगभग एक हजार वर्ष व्यतीत हुए भारत में यत्र तत्र बौद्धों की नास्तिक विचारधारा का साम्राज्य छाया हुआ था। बड़े २ विद्वान् भी बौद्धों की युक्तियों का लोहा मानते और 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का जाप करते हुए नास्तिक बनते जा रहे थे, उस समय मगध देश की पवित्र भूमि ने एक तेजस्वी वीर रत्न को जन्म दिया जिसने विद्याध्ययन के पश्चात् वैदिक धर्म के उद्धार और बौद्धवाद के धिक्कार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया, स्थान स्थान पर बौद्ध पंडितों के साथ शास्त्रार्थ किये और नास्तिक्य के गहरे गर्त में गिरती हुई आर्य जनता को आस्तिकता के परमोच्च शिखर पर चढाने के प्रबल प्रयत्न किये।

उस महान् विद्वान् का नाम था उदयनाचार्य। उदयनाचार्य दर्शन शास्त्र विशेषतः न्याय शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हो गये हैं। उन्होंने बौद्ध विद्वानों को परास्त करते हुए जिन वज्रयुक्तियों से कार्य लिया था उनका संग्रह उनकी लिखित 'न्याय कुसुमाञ्जलि' में यथातथ्य रूप से आज भी विद्यमान है, ईश्वरसिद्धि जैसे परमावश्यक और सूक्ष्म विषय पर समस्त संस्कृत साहित्य में 'न्याय कुसुमाञ्जलि' ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें बौद्धों जैनों और चारवाक आदि नास्तिकों के हेत्वाभासों और दृष्टांताभासों का प्रबल खण्डन किया गया है। खेद है कि ऐसे दिग्विजयी शास्त्रार्थ महारथी आचार्य की अद्भुत कृति से बड़े बड़े विद्वान् भी परिचित नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ की भाषा और भाव दोनों ही दुरूह और क्लिष्ट हैं तथापि स्वयं उदयनाचार्य ने अपने श्लोकों की व्याख्या करके विषय को बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है तथा अन्य विद्वानों ने भी टीकायें लिख कर ग्रन्थ के विषय को सुगमतर बनाने का यत्न किया है।

जिस विद्वान् ने बौद्धों की विचार धारा को अवरुद्ध करके सदा के लिये कुण्ठित कर दिया था और भारत में पनपते रहने पर कठोर कुठाराघात कर दिया था। परिणाम स्वरूप जिसका नाम सुन कर बौद्ध और नास्तिक विद्वान् शास्त्रार्थ के क्षेत्र से पलायन कर जाते थे और अन्ततः भारतभूमि को त्यागने पर भी विवश हो गये थे उस परम आस्तिक ब्रह्मवर्चस्वी ऋषिकल्प उदयनाचार्य की वज्रयुक्तियों से सर्वसाधारण को परिचित कराने के लिये हम अपनी लेखनी को प्रवृत्त करते हैं। प्रवृत्त भी इस लिये करते हैं कि आज पुनः नास्तिकता की प्रबल तरंगें उठकर आस्तिकता को दबाना चाहती हैं। हमारी इच्छा है कि ईश्वरविश्वासी जनता के हाथ में उदयनाचार्य की प्रबल युक्तियों का ब्रह्मास्त्र दे दिया जावे जिसके भय से नास्तिकता का भयंकर भूत परास्त होकर परे हट जावे-भारत से दूर ही रहे।

कुसुमाञ्जलि का परिचय

आचार्य ने अपने ग्रन्थ का आवश्यक परिचय देते हुए ग्रन्थ के आरंभ में मंगलाचरण करते हुए लिखा है कि—

सत्पक्ष प्रसरः सतां परिमल प्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरस प्रस्यंदमाध्वीकभूः।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृंगायमाणं भ्रमत्
चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥१॥

(१) एषः न्यायप्रसूनांजलिः— यह मेरा ग्रन्थ न्याय कुसुमाञ्जलि है। इसमें न्याय-यथार्थज्ञान के सुन्दर सुगन्धी पुष्पों का संग्रह किया गया है। प्रत्येक युक्ति में यथार्थज्ञान का सौन्दर्य और सुगन्ध कूट कूट कर भर दिया गया है।

(२) एषः ईशस्य पदयुगे निवेशितः— मैंने इसको अनन्त ब्रह्माण्ड के नियन्ता लोक शासन कर्ता परमेश्वर के चरणयुगल में समर्पित किया है। परमेश्वर के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये पद्युगल को मैंने विशेष महत्व पूर्ण समझा है। ये दोनों पद हैं— अन्वय और व्यतिरेक लोक विख्यात और विद्वज्जनों के द्वारा सदा पूजित हैं।

आचार्य ने जहां ग्रन्थ को ईश्वरार्पण करके मंगलाचरण और विषय का प्रतिपादन किया वहां यह भी बता दिया कि जैसे संसार के किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान के लिये अन्वय और व्यतिरेक की सहायता आवश्यक होती है वैसे ही ईश्वर के तत्वज्ञान के लिये भी इनकी उपयोगिता है, अन्वय और व्यतिरेक ईश्वर की सिद्धि में किस प्रकार उपयोगी हैं— यह सब कुछ इस ग्रन्थ में यत्र तत्र और सर्वत्र दिखाया जायगा।

(३) एषः सत्पक्षप्रसरः— यह मेरा ग्रन्थ सत्य पक्ष का प्रसार करनेवाला है। इसमें सज्जनों के द्वारा अनुमोदित तथा वेदों के वाक्यों द्वारा प्रतिपादित आस्तिक सिद्धान्त का व्याख्यान और शास्त्रार्थ द्वारा विस्तार करके निर्णय किया गया है।

मैंने दुराग्रही-मण्डल को सत्य पक्ष का प्रकाश दिखा कर प्रेरित किया है कि वह असत्यपक्ष नास्तिकता का परित्याग करके सत्यपक्ष अर्थात् आस्तिक सिद्धांत को स्वीकार करे।

(४) एषः सतां परिमल प्रोद्बोधबद्धोत्सवः— यह मेरा ग्रन्थ अपने दिव्य और प्रभावशाली स्वरूप को दिखा कर विद्वानों और सत्य के जिज्ञासुओं को विशुद्ध ज्ञान और अकाट्य युक्तियों के द्वारा आनन्द विभोर कर देने की शक्ति रखता है।

इसको पढ कर समझ कर और मनन करके बडे से बडे नास्तिक को शास्त्रार्थ में परास्त किया जा सकता है, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने वाले को ग्रन्थोक्त युक्तियों से निरुत्तर करके ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के लिये विवश किया जा सकता है।

(५) एषः विमर्दने विम्लानः न— यह कुसुमाञ्जलि वह नहीं है जो छूने से या मर्दन करने से विम्लान या विकृत होकर कुम्हला जावे और अपना सारा सौन्दर्य तथा सारी सुगन्धी खो बैठे।

हम तो कहते हैं और विपक्षियों को आह्वान करते हैं कि वे आगे आवें और इस कुसुमाञ्जलि को स्पर्श करके देखें। वे कभी इसका सौन्दर्य आकर्षण और सुगन्ध विकृत न कर सकेंगे। इसकी अकाट्य युक्तियों का कभी भी और कोई भी खण्डन नहीं कर सकता। अपितु इसका जितना भी मनन किया जावे और जितना भी विचार विमर्श किया जावे उतना ही—

(६) एषः अमृतरस प्रस्यंदमाध्वीकभूः—यह ज्ञानामृत और ईश्वरविश्वास की मधुरधारा का प्रवाह वहाता दिखाई देगा।

आप इसका ज्यों ज्यों स्वाध्याय और अनुशीलन करेंगे त्यों त्यों इसमें से आस्तिक्य की विचारधाराओं के तथा श्रद्धा के पवित्र श्रोत उमड़ते और ठठें मारते दिखाई देंगे।

(७) एषः अनघः— इसीलिये यह निर्दोष है। इसमें किसी छल कपट और हेत्वाभास आदि घृणित तथा गर्हित उपाय का आश्रय नहीं लिया गया है।

जब यह ग्रन्थ इतना उपयोगी इतना निर्दोष और इतना सुन्दर

और सुगन्धित है तो इसकी सुगन्ध सभी सज्जनों को लेनी चाहिये।

(८) मे भृंगायमानं भ्रमत् चेतः ईशस्य पदयुगे अविघ्नं रमयतु—मेरा चित्त भृंग के समान चंचल होकर कभी कहीं कभी कहीं भ्रमण करता रहता है अब वह भी अपनी चञ्चल वृत्ति का परित्याग करके परमेश्वर के चरणयुगल में निश्चित होकर आनन्द पूर्वक रमण करेगा क्योंकि वहां पादयुगल में कुसुमाञ्जलि रखी हुई है। भ्रमर की चञ्चलता तभी दूर होती है जब उसको सुन्दर सुगन्धित और मधुर रससे ओत प्रोत कोई कुसुम मिल जावे। हमको भी ऐसा ही कुसुम मिल गया है—नहीं नहीं अनेक कुसुमों की अंजलि मिल गई है। जिसमें प्रत्येक कुसुम एक दूसरे से सौन्दर्य और सौरभ्य में चढ़ बढ़ कर स्पर्धा करनेवाला है। अपने मनको यहां बिठा दीजिये यहां कोई विघ्न नहीं है।

आचार्य ने बताया कि भगवान् के चरणों में श्रद्धापूर्वक बैठने से ही चित्त की चञ्चलता मिट सकती है। परमेश्वर की शरण छोड कर कहीं सुख और शांति नहीं है। जो ईश्वर को नहीं मानते वे सदा जन्म मरण के चक्र में चढ कर अनन्त काल तक भटकते रहते हैं।

विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा—

स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनंति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥२॥

बडे बडे विचारशील तत्त्वज्ञानी लोग जिस परमात्मा की उपासना को स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का सीधा सच्चा और सरल मार्ग वर्णन करते हैं—उसी परमात्मा का इस ग्रन्थ में निरूपण किया जाता है।

विचारक लोग सूक्ष्म विचार तथा मनन करने के अनन्तर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्य के अन्तस्तल में उच्चकोटि के सुख ऐश्वर्य, उत्तम शरीर और उत्तम भोग रूप स्वर्ग को प्राप्त करने की मनोकामना पाई जाती है। और किसी किसी वैराग्यवान् जिज्ञासु जन के चित्त में संसार के भोग विलास और दुःखद्वन्द्व के जञ्जाल

से बच कर कहीं दूर पहुँच कर अनन्त विश्राम अर्थात् मोक्ष धाम की प्राप्ति की उत्कट इच्छा भी पाई जाती है। इस स्वर्ग और अपवर्ग की इच्छा के पाये जाने से सिद्ध होता है कि इनका कोई उद्देश्य अवश्यमेव है और इनका कोई उपाय भी अवश्यमेव होगा। जिन तत्वज्ञानियों ने मानवीय हृदय की गहराई का गहराई से अध्ययन किया है उन मनीषी जनों का कहना है कि मनुष्य की ये दोनों इच्छायें अवश्यमेव पूर्ण हो सकती हैं—एक न एक दिन मनुष्य को स्वर्ग भी प्राप्त हो सकता है। और मोक्ष भी मिल सकता है। और मिलने का उपाय भी है अर्थात् परमात्मा की उपासना।

परमात्मा की उपासना के दो लाभ हैं—स्वर्ग अर्थात् संसार का सर्वोच्च सुख भोग प्राप्त करना या फिर दुःखद्वन्द्व से सर्वथा छूट कर मुक्त हो जाना। जिस परमात्मा की उपासना से इतनी बहुमूल्य और अमूल्य वस्तु प्राप्त होती है उसका निरूपण करना ही हमारे ग्रन्थ का उद्देश्य है।

विचार कीजिये कि जब मनुष्य के मन में ऐसी प्रबल इच्छायें और उत्कट आशायें विद्यमान हैं तो इनकी पूर्ति की सामग्री भी कहीं न कहीं अवश्य ही होगी जैसे प्यास को दूर करने की सामग्री, जल के रूप में विद्यमान है और क्षुधा को निवृत्त करने की सामग्री, भोजन के रूप में विद्यमान है और निवास के लिये छायायुक्त स्थान विद्यमान है—वैसे ही स्वर्ग और अपवर्ग भी विद्यमान हैं और उनको प्राप्त कराने वाला भी कोई अवश्यमेव होना ही चाहिए। मनन करने वाले मनीषियों ने गहरा मनन करने के अनन्तर संसार के उतावले जिज्ञासु मण्डल को यह शुभ समाचार सुनाया है कि परमात्मा है और उसकी श्रद्धा पूर्वक उपासना करने से ये दोनों दुर्लभ फल—स्वर्ग और अपवर्ग अवश्य प्राप्त किये जा जकते हैं।

परमात्मा कोई अविद्यमान पदार्थ नहीं है, परमात्मा कोई कल्पित पदार्थ भी नहीं है और न ही कोई अनुपयोगी अथवा अनावश्यक तत्व है—वह तो इतना उपयोगी इतना आवश्यक और इतना शक्तिशाली है कि उसकी संसार में सर्वत्र चर्चा चलती है। उसकी इतनी प्रसिद्धि है कि वेद उपनिषद और शास्त्रों में उसकी महिमा का गायन करते हुये

उसे शुद्ध बुद्ध स्वभाव तथा सृष्टि कर्ता आदि विशेषणों से स्मरण किया गया है। साम्प्रदायिक लोग भी उसको अपने सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक के रूप में मानते हैं। ऐसे परमात्मा के विषय में कौन ऐसा अभागा होगा जिसको कुछ न कुछ पता न हो। परमात्मा के निर्माण किये हुये इस अद्भुत संसार को देखने पर भला कौन आंख का अंधा होगा जो जगत् कला के कलाकार की सत्ता से नकार करने का दुःसाहस करेगा।

तथापि यह संसार है, यह बड़ा विचित्र और बड़ा अद्भुत है। इसमें अनेक प्रकार की सृष्टि है, ढूण्ढने पर और कभी कभी अकस्मात् ही ऐसे विचित्र दृश्य देखने में आ जाते हैं कि जिनको देख कर महान् आश्चर्य होने लगता है इस संसार में जहां परमेश्वर के अत्यन्त श्रद्धालु पाये जाते हैं वहां कट्टर नास्तिक भी देखने सुनने में आ जाते हैं। जो परमात्मा की दी हुई जिह्वा को झटकादेकर दुःसाहसपूर्वक उच्चैःघोष से कहा करते हैं कि इस ससार में परमात्मा नाम का कोई तत्व नहीं है।

ऐसे नास्तिक लोगों का भी संसार में अस्तित्व है और उनके शब्दों पर ध्यान देने वाले भी देखने सुनने में आते हैं तथा उनके अनर्गल वचनों को महत्व देने वाले भी यत्र तत्र दृष्टि गोचर होते रहते हैं। ऐसे लोगों के कल्याण करने के लिये हमने इस 'न्याय कुसुमाञ्जलि' की रचना की है। रचना मात्र ही नहीं की गई है अपितु—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥३॥

श्रवण करने के अनन्तर मनन करने का शास्त्रीय विधान है। अतः हमारी यह न्याय चर्चा मनन मानी जानी चाहिए। और सचमुच यह मनन ही है—इस प्रकार इसके द्वारा हम परमात्मा की उपासना ही करते हैं।

उपनिषद में कहा गया है—आत्मा वारे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यश्च। अर्थात् आत्मा-परमात्मा दर्शन करने योग्य है, श्रुति वाक्यों से श्रवण करने के योग्य है, न्याय चर्चा के द्वारा युक्ति प्रयुक्ति से मनन करने के योग्य है और योगाभ्यास के द्वारा समाधि में साक्षात्कार करने के योग्य है।

परमात्मा के अस्तित्व पर विचार करना और नास्तिकत्व का परिहार करना–यह ही सच्ची उपासना है तथा श्रवण के अनन्तर एकाग्रतापूर्वक मनन करनाही सच्ची आराधना है।

उहापोह के द्वारापूर्वोत्तर पक्षों का उत्थापन करके तत्त्व साक्षात्कार के लिये तर्क का आश्रय लेना न्याय चर्चा कही जाती है। उदयनाचार्य जी को उपासना का यही स्वरूप अच्छा लगा है। इस स्वरूप में वड़ा भारी आकर्षण है, वड़ा भारी सौन्दर्य है और वड़ा भारी रहस्य भरा हुआ है। आचार्य ने यत्र तत्र भ्रमण करके अनुभव किया कि भोली जनता को भूल भुलैया के चक्कर में डालने के लिये बौद्ध और चारवाक लोग अपने पूरे बल का प्रयोग कर रहे हैं और उसके हृदय सिंहासन से श्रद्धा देवी को उतार कर नास्तिकता का सन्मान कर रहे हैं तो उन्होंने भक्ति भाव और पूजन अर्चन तथा ध्यान समाधि का मार्ग छोड़ कर सर्वजन हितांय न्याय चर्चा का मार्ग स्वीकार किया। इसी का परिणाम है कि उन्होंने भारत भर में भ्रमण करके कई दिग्विजय किये और नास्तिकों को यत्र तत्र और सर्वत्र परास्त किया। उन्होंने कहा कि नास्तिकता को समूल उन्मूलन करने के लिये न्याय चर्चा चलाना अत्यन्त उपयोगी है। इसके द्वारा जनता के हृदय पर पड़े हुये बौद्ध संस्कारों को दूर किया जा सकता है और परमात्मा की सत्ता पर किये गये आक्षेपों के प्रहार का परिहार किया जा सकता है। न केवल यही अपितु तिरस्कृत की गई श्रद्धा को पुनरपि श्रद्धा से हृदयासनासीन किया जा सकता है।

अतः परमात्मा की उपासना का यह मार्ग बहुत अच्छा है—श्रुतिवाक्यों के पठन पाठन और श्रवण करने के अनन्तर परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव का चिन्तन करना तथा परमात्मा के सम्बन्ध में फैलाये गए दूषित दोषों और निकृष्ट आक्षेपों को दूर करके श्रद्धा का आह्वान करना। इस मार्ग के अवलम्बन से अपना तो आत्मचिंतन होता ही है सुनने वालों तथा संसर्ग में आने वालों का भी साथ साथ कल्याण होता है।

जैसे सूर्य के उदय होने से सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है और साथ ही घोर अन्धकार भी नष्ट हो जाता है उसी प्रकार न्यायचर्चा के इस मनन मार्ग का अवलम्बन करने से श्रद्धा और आस्तिक्यभावना का

प्रकाश फैल जाता है और साथ साथ हृदय के स्वच्छ सिंहासन पर आसन जमाने वाले अज्ञान अन्धकार का नाश भी हो जाता है।

इसी उद्देश्य से भगवान् मनु ने भी कहा है कि—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास रसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

वेद वाक्यों से, अनुमान के द्वारा युक्ति प्रयुक्तियों से और ध्यान समाधि के सतत अभ्यास से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार साक्षात्कार के योग के लिये तीनों प्रकार की प्रकृष्ट प्रज्ञा की आवश्यकता है। अर्थात् वेदों की श्रुतियों का स्वाध्याय करना आवश्यक है, अनुमान के द्वारा मनन करना भी आवश्यक है और ध्यान का अभ्यास करना भी आवश्यक है।

स्वाध्याय के अनन्तर अब हम मनन करते हैं अर्थात् जिस परमात्मा का वेदों की श्रुतियों में श्रवण किया जाता है उसके गुण कर्म,स्वभाव की विस्तार से समालोचना करते हैं। जो लोग परमात्मा को नहीं मानते उनकी प्रत्येक बात को हम ध्यान से सुनेंगे और उनके सिद्धांत के दोष प्रकट करते हुए उनको आस्तिक बनने की प्रेरणा करेंगे तथा आस्तिकवाद पर जो जो दोष उनकी ओर से उपस्थित किये जाते हैं उन पर गम्भीरता से विचार करते हुए नास्तिक्य को सर्वथा त्याग देने की प्रार्थना भी करेंगे।

इतनी भूमिका के पश्चात् अब विषय प्रवेश का प्रकरण आता है। बात यह है कि संसार के समालोचकों में पांच प्रकार के विचार पाये जाते हैं —

(१) कोई कहते हैं कि परलोक का कोई अलौकिक साधन नहीं है।

(२) कोई कहते हैं कि–ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना भी परलोक का साधन हो सकता है।

(३) कोई कहते हैं कि– जब हमारे पास ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध करने वाले प्रबल प्रमाण विद्यमान हैं तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(४) कोई कहते हैं कि– यदि ईश्वर नाम का कोई तत्त्व संसार में विद्यमान हो भी, तदपि उसकी कोई उपयोगिता नहीं है।

(५) कोई कहते हैं कि—आस्तिक कहलाने वाले लोगों के पास ऐसा कोई प्रबल प्रमाण नहीं है जिसके द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध हो सके।

ये पांच प्रकार की विप्रतिपत्तियां हैं जो पांच प्रकार के विप्रतिपन्न नास्तिकों के द्वारा सदा उठाई जाती हैं। इन पांच पक्षों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

पहली विप्रतिपत्ति नास्तिक शिरोमणि चारवाक के अनुयायी लोक उठाया करते हैं। उनका कहना यह है कि—परलोक अर्थात् अगला जन्म नहीं होता, शरीर भस्म हो जाने पर फिर जन्म नहीं हो सकता। आत्मा या जीव नामक कोई तत्व नहीं है जो शरीर से पृथक हो और मृत्यु के पश्चात् शेष रह जाता हो। कर्म भी कोई तत्व नहीं है जिसका फल भोगने के लिये पुनर्जन्म धारण करना पड़ें। ईश्वर नाम का भी कोई चेतन तत्व नहीं है जो संसार की रचना करता हो और कर्मों का फल प्रदान करता हो। यह सृष्टि भी किसी की बनाई हुई नहीं है। यह जैसी भी है अपने आप पहिले से ही ऐसी चली आ रही है। यदि इसकी उत्पत्ति भी स्वीकार कर ली जावे तो भी ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अग्नि, वायु, जल और पृथिवी के अंश परस्पर मिल कर जगत् को स्वयमेव उत्पन्न कर सकते हैं। वेद को ईश्वरीय ज्ञान अथवा प्रमाण मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। यज्ञ याग और धर्म कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है इत्यादि—ये उनके विचार हैं।

सबसे प्रथम चारवाकों की इस विप्रपत्ति पर विचार किया जाता है और प्रथम स्तवक में आत्मा, परमात्मा कर्म फल, तथा सृष्टि के नियमों के विषय में स्फुट और विस्पष्ट प्रमाणों का निरूपण किया जाता है।

चारवाक की विप्रतिपत्ति पर विचार

सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः
प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥४॥

शब्दार्थ—सापेक्षत्वात्-कार्य मात्र के लिए कारण की अपेक्षा होने से, अनादित्वात् संसार के अनादि होने, वैचित्र्यात् विलक्षण होने से विश्ववृत्तितः समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति होने से और सुख दुःख के साथ जीवात्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाने से, परलोक का कोई अलौकिक हेतु अवश्य है।

पांच युक्तियों से सिद्ध होता है कि जगत् की व्याख्या के लिए संसार से अतिरिक्त कोई अलौकिक सत्ता है जिसके कारण संसार की व्याख्या चल रही है।

पहिली युक्ति—'सापेक्षत्वात्' पर विचार।

व्याख्या—प्रत्येक कार्य के लिये कारण का नियम पाया जाता है सुख दुःख भी कार्य हैं इनका भी कोई कारण होना चाहिए। भोजन करने से क्षुधा निवृत्ति होती है, जलपान करने से पिपासा शान्त होती है। वस्त्र धारण करने से शरीर का अंग संरक्षण होता है। गृह निवास से वर्षा आतप आदि का कष्ट दूर होता है। धनोपार्जन से धनाढ्य और विद्योपार्जन से विद्वान् वनता है। माता पिता से सन्तान उत्पन्न होती है और क्षेत्र में धान्यारोपण से अन्न उत्पन्न होता। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि समस्त संसार कार्य कारण भाव की दृढ़ शृंखला से वंधा हुआ है। हमारे संसार में एक भी कार्य ऐसा नहीं मिल सकता है कि जिसका कोई कारण न हो इसीलिए हम यह कहते हैं कि कारण के विना कार्य नहीं हो सकता और कार्य के लिये किसी न किसी कारण का होना परम आवश्यक हैं। अतः कार्य कारण भाव के आधार पर सिद्ध होता हैं कि सुख दुःख और परलोक का कारण धर्म अधर्म हैं और धर्म अधर्म जड़ होने के कारण स्वयं कुछ नहीं कर सकते अतः चेतन जीवात्मा भी है और जीवात्मा अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण सुख चाहता हुआ

सुख नहीं भोग सकता और दुःख को न चाहता हुआ भी दुःख भोगता है इसलिये जीवात्मा को कर्म भोग की व्यवस्था में रखने वाला कोई अलौकिक कारण है और वही ईश्वर है।

शंका—संसार में कार्य कारणभाव का कोई नियम नहीं है और न ही कोई व्यवस्था पाई जाती है। यह संसार अकस्मात् विना किसी कारण के अपने आप ही उत्पन्न हुआ है।

उत्तर— हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥५॥

शब्दार्थ— हेतुभूतिनिषेधः-यदि यह कहते हो कि संसार में हेतु नामक कोई तत्व ही नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। यदि कहते हो कि स्वानुपाख्याविधिः—अलीक को हेतु मानने से काम चल सकता है तो ऐसा मानना भी, न च—उचित नहीं है, यदि कहा कि स्वभाव-वर्णना-कार्य का स्वभाव ही ऐसा है तो एवम् न—ऐसा कहना भी यथार्थ नहीं है, अवधेर्नियतत्वतः—क्योंकि अवधि का नियम पाया जाता है।

व्याख्या—हेतु विषयक निषेध करने से यह ही कहा जा सकता है कि—'कारण नहीं है'—इसका तात्पर्य कारण के अस्तित्व का निषेध है अर्थात् कारण कही जाने वाली वस्तु का निषेध है। परंतु ऐसा कहने से वस्तुस्थिति का विरोध होगा और लाखों वस्तुओं के प्रत्यक्ष अस्तित्व की अवहेलना होगी।

यदि कहा जावे कि हेतुविषयक निषेध से हमारा अभिप्राय यह है कि 'कोई भी कारण नहीं है' अर्थात् वस्तुओं का अस्तित्व तो है परंतु वस्तुओं का कारण नहीं माना जा सकता, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक वस्तु में कारणत्व धर्म है और इसी लिये वह कारण भी है। जैसे पुस्तक पढ़ने से विद्वान् बनते हैं इस लिये पुस्तकें विद्वान् होने का कारण हैं। अनेक प्रकार के रोटी भात आदि भोज्य पदार्थ, क्षुधा निवृत्ति तथा बलवृद्धि के कारण हैं। ऐसे ही संसार में असंख्य व्यवहारों के असंख्य कारण हैं जिनके विना संसार का व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। यदि विना कारण के उपरोक्त कार्य सिद्ध हो जाते तो हम निःसंकोच स्वीकार कर सकते थे कि विना कुछ

खाये पिये तृप्ति हो सकती है और विना विद्याध्ययन किए विद्वान् बना जा सकता है।

यदि नास्तिक यह कहता है कि—कारण तो है परन्तु वह अलीक है; तो ऐसा कहना भी युक्ति युक्त नहीं क्योंकि अलीक अथवा अनुपाख्य कही जाने वाली वस्तु में किसी पदार्थ वा किसी क्रिया को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती। जैसे मृगतृष्णिका के जल में पिपासा शांत करने अथवा शीतलता प्रदान करने की योग्यता नहीं होती। वन्ध्या के पुत्र में सन्तान उत्पन्न करने अथवा युद्ध में विजय लाभ करने की योग्यता नहीं पाई जा सकती। इसी प्रकार शश के शृंगों से न तो धनुष बनाया जा सकता है और न ही उनके द्वारा शत्रु पर बाण वर्षा की जा सकती है, आकाश के कुसुमों को कन्नौज के कारखाने में भेज कर इत्र अथवा मनमोहक सुगन्धित द्रव्य उत्पन्न नहीं किए जा सकते। संसार के पदार्थों को शशशृंग आदि अलीकों के समान कहना भी अनुभव विरुद्ध है क्योंकि शशशृंग आदि अलीक तो करोड़ों वर्ष तक ढूण्ढने पर भी प्राप्त नहीं हो सकते परन्तु कारण कहे जाने वाले असंख्य पदार्थों को प्रत्येक व्यक्ति हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर सकता है। इसलिये कारण को अलीक अथवा अलीक को कारण कहना सर्वथा अनुचित तथा व्याघात दोष दूषित है।

यदि नास्तिक यह कहता है कि—विना कारण के अकस्मात् उत्पन्न हो जाना पदार्थों का स्वभाव है—तो यह स्वभाव वर्णन भी ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि सांसारिक पदार्थों में पौर्वापर्य का नियम पाया जाता है। कारण पहिले होता है उसके पश्चात् कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार एक तट वाली नदी तथा एक पक्ष वाला पक्षी होना असम्भव है इसी प्रकार विना कारण के कार्य और विना कार्य के कारण का होना असम्भव है। मृत्तिका से घट और कपास से वस्त्र तथा वृक्ष से कुरसी पलंग आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध लोक प्रसिद्ध है। यदि मृत्तिका पहिले पानी से गून्धी हुई न हो तो घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कपास के तन्तु पिण्ड उपस्थित न हों तो वस्त्र नहीं बुना जा सकता। यदि वृक्ष की सत्ता पहिले न हो तो उसकी लकड़ी से कुरसी पलंग आदि नहीं बन सकते। एवं धान्य पहिले हो तो उसके पश्चात् रोटी भात आदि भोज्य पदार्थ वन सकते हैं अन्यथा नहीं। इस प्रकार कारण का पहिले होना और कार्य का उसके पश्चात्

होना अन्वय व्यतिरेक से सर्वथा सिद्ध है। इसी पूर्वा पर भाव अथव पौर्वापर्य नियम को अवधि का नियत होना कहा जाता है। इस नियम से संसार के पदार्थ परस्पर सम्बद्ध हैं और सिद्ध करते हैं कि कोई कार्य विना कारण के अकस्मात् कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। अत सिद्ध हुआ कि—कार्य कारण भाव के पाये जाने तथा पूर्वा पर भावः की अवधि के नियत होने से संसार के सुख दुःख तथा घट पटादि से लेकर चन्द्र सूर्य पृथ्वी नक्षत्रादि तक अन्यान्य पदार्थ अकस्मात् अपने आप उत्पन्न नहीं हुए हैं। इसलिये कारण का निषेध करना या कारण को अलीक कहना अथवा सांसारिक कार्यों का अपने आप अकस्मात् हो जाना आदि कहना निरर्गल कल्पना मात्र है।

न केवल सापेक्षत्व से ही अलौकिक हेतु की सिद्धि होती है अपितु अनादित्व से भी इसकी पुष्टि होती है।

दूसरी युक्ति 'अनादित्वात्' पर विचार

शंका—पदार्थों में अवधि का नियत होना अनिवार्य नहीं है क्यों कि यदि मृत्तिका की "पर अवधि" घट को माना जावे तो घट की पर अवधि किस को माना जायगा। इसी प्रकार मृत्तिका को यदि घट की पूर्व अवधि माना जावे तो मृत्तिका की पूर्व अवधि किस को मानोगे। अर्थात् मृत्तिका का भी कारण और घट का भी कार्य मानना होगा। ऐसा मानने पर कार्य कारण की व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जायगी। ऐसी अवस्था में अलौकिक हेतु की सिद्धि कैसे की जा सकती है?

उत्तर—प्रवाहोऽनादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान्
तत्वे यत्नवता भाव्यमन्वय व्यतिरेकयोः ॥६॥

शब्दार्थ—एषः प्रवाहः—यह कार्य कारण भाव अथवा पूर्वा पर अवधि का नियम, आदिमान् न–आदि वाला नहीं है अर्थात् अनादि है। विजात्येक शक्तिमान्—स्वजातीय पदार्थ की शक्ति का परित्याग करके किसी विजातीय पदार्थ की एक मात्र शक्ति से सम्बद्ध भी, न—नहीं है। अन्वय व्यतिरेकयोः—अन्वय और व्यतिरेक के वल पर, तत्वे—इस तत्व की सिद्धि में, यत्नवता भाव्यम्—परीक्षकों का कर्तव्य है कि ऊहापोह द्वारा प्रयत्न करें।

व्याख्या—यह संसार का कार्य कारण भाव प्रवाह से अनादि है। अनादि होता हुआ भी सजातीय से सजातीय और विजातीय से विजातीय पदार्थ ही उत्पन्न होने की निश्चित् शक्ति वाला भी है क्यों-कि सजातीय से विजातीय पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते। जहां कहीं भी आप को कार्य कारण भाव की इस सत्यता पर सन्देह हो वहां आप अन्वय व्यतिरेक के बल पर तत्त्व का निर्णय कर सकते हैं।

किसी पदार्थ के होने पर किसी पदार्थ का होना—अन्वय कहलाता है। और किसी पदार्थ के न होने पर किसी पदार्थ का न होना व्यतिरेक कहलाता है। इस अन्वय व्यतिरेक के बल पर हमकह सकते

हैं कि लकड़ी वढ़ई और काटने छीलने के साधन होनें पर ही कुरसी मेज आदि वस्तुएं वन सकती हैं, न होने पर नहीं वन सकतीं। खेत में बीज बोने पर ही अन्न उत्पन्न हो सकता है विना वीज के नहीं। मृत्तिका, चूना, लकड़ी और शिल्पी के होने पर ही घर बन सकते हैं न होने पर कदापि नहीं। यह कार्य कारण भाव, अन्वय-व्यतिरेक की सुदृढ़ लोह रज्जु से सम्बद्ध है इस शक्ति शालिनी शृंखला को तोड़ना या इसके प्रभाव क्षेत्र से मुह मोड़ना अनीश्वर वादी नास्तिकों की शक्ति से सर्वथा वाहर की वात है।

इस पर एक दृष्टि डालिये। संसार में कार्यकारण का अनादि प्रवाह वह रहा है। पहिले मृत्तिका फिर मृत्तिका का पिण्ड और उसके पश्चात् विशेष क्रिया द्वारा घट की उत्पत्ति- यह एक क्रम है। इस क्रम में मृतिका का निश्चित नियमपूर्वक घट से पहिले वर्तमान होना- मृतिका के घट का कारण होना है। अब दूसरा क्रम देखिये— घट का विध्वंस होगया और घड़े के टुकड़े २ होगये, फिर उन टुकड़ों का चूर्ण सा हो गया-इस चूर्ण को मृत्तिका कह लीजिये। घड़ा मिट्टी से उत्पन्न हुआ और मिट्टी में ही लीन हो गया। जिस मिट्टी में घड़ा लीन हुआ है वास्तव में वही मिट्टी का चूर्ण घड़े की उत्पत्ति से पूर्व, घड़े का उपादान कारण था। यदि मृत्तिका का चूर्ण न होता तो घड़े की उत्पत्ति न होती घड़े का मिट्टी के परमाणुपुञ्ज से बनना और घड़े के फूटने से मिट्टी के परमाणु पुञ्ज का बनना-यह अन्वय व्यतिरेक जहां मृत्तिका और घड़े के कार्यकारण भाव को सिद्ध करता है वहां इसी अन्वय व्यतिरेक से मृत्तिका और घट के कार्यकारण भाव का प्रवाह भी अनादि सिद्ध होता है, यथा-पहिले मृत्तिका के परमाणु, फिर मृत्तिका का पिन्ड, फिर घड़ा, उस के पश्चात् घड़ा फूटा तो घट के छोटे २ टुकड़े, फिर मिट्टी के पिन्ड, फिर मिट्टी का चूर्ण, उसके पश्चात् फिर पिण्ड, घट और घटध्वंस। इस प्रकार मिट्टी और घड़े का नियम-पूर्वक आगे पीछे अथवा पूर्वा पर अवधि वाला होना अनादि काल से प्रवाहित होता चला आ रहा है। न केवल मिट्टी और घड़े का ही प्रवाह चक्र अनादि है अपितु बीज और वृक्ष का तथा विचार और कर्म का अथवा कर्म और सुख दुःख का कार्य कारणभाव भी अनादि प्रवाह चक्र के अन्तर्गत है।

रात दिन के समान इस कार्य कारणभाव के अनादि होने को दोष दूषित नहीं कहा जा सकता क्योंकि समस्त संसार के पदार्थों की वास्तविक स्थिति ही ऐसी है। कारण को कार्य, कार्य को कारण अथवा कारण का कारण और कार्य का कार्य इत्यादि के व्यर्थ विचार, अनादि प्रवाह के चक्र के सामने कुछ भी महत्व नहीं रखते। अनादि होना कार्य कारणभाव के लिये कोई दोष की बात नहीं है क्योंकि यह नियम अन्वय व्यतिरेक के सुदृढ़ आधार पर आश्रित है। कारण के पश्चात् कार्य और कार्य के पश्चात् कारण में लीन होना प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये इस तथ्य का केवल शुष्क बातों से बाध नहीं हो सकता।

यदि नास्तिक यह कहे कि-एक जातीय पदार्थ से भिन्न जातीय पदार्थों की उत्पत्ति पाई जाती है इसलिये कार्य कारणभाव ठीक नहीं है, तो अनीश्वर वादी का यह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि एक जातीय पदार्थ से भिन्न जातीय पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्या गौ से घोड़े और घोड़ी से हाथी तथा मक्खी से मच्छर और मच्छर से मछली पैदा हो सकती है? क्या गेहूं से चावल, चावल से चने तथा चने से उर्द और आम से जामन, खीरे से तरबूज, आक से अंगूर और अनार से बादाम उत्पन्न हो सकता है? क्या लोहे से पीतल, पारे से गंधक, मोती से मूंगा और चान्दी से गेरु और लवण से सुवर्ण उत्पन्न हो सकता है? क्या कपड़े से कुरसी और छड़ी से घड़ा पैदा हो सकता है? कदापि नहीं, कदापि नहीं! कार्य कारणभाव की पुष्टि के लिये 'अन्वय व्यतिरेक' एक अमोघ साधन है इसके होते हुए किसी माई के लाल में यह शक्ति नहीं कि एक जातीय पदार्थ से भिन्न जातीय पदार्थ उत्पन्न कर सके।

तृण, सूर्य कान्त, अरणी, मेघ और घर्षण आदि से उत्पन्न अग्नि को एक मान कर विजातीय पदार्थ से एक जातीय और विजातीय कार्यों की उत्पत्ति का ढकोसला खड़ा करने से भी कार्य कारण भाव की अवलेहना नहीं की जा सकती। क्योंकि अन्वय व्यतिरेक के बल पर यह सिद्ध होता है कि कारण की भिन्नता से कार्य की भिन्नता अवश्य होती है। मेघों से उत्पन्न अग्नि (बिजुली) और तृणों से उत्पन्न अग्नि का एक ही रूप और प्रभाव नहीं है। बादाम ब्राह्मी के शर्बत से भी प्यास दूर होती है और गुलाब जल से भी प्यास दूर हो जाती

है फीके पानी से भी दूर होती है। क्या इन में अन्तर नहीं है? चने चबाने से भी भूख दूर होती है और मोती चूर के लड्डू खाने से भी भूख दूर होती है। आम खाने और खीरा ककड़ी खाने से भी भूख दूर हो जाती है—क्या इन में कोई अन्तर नहीं? है और अवश्य है। आप अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा इसकी परीक्षा कर सकते हैं। जैसे तृप्ति और निवृत्ति एक कारण से उत्पन्न नहीं और एक प्रकार की एक जातीय नहीं वैसे ही अग्नि भी अनेक कारणों से उत्पन्न होने से अनेक प्रकार की है। इसलिये सजातीय से सजातीय ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं विजातीय नहीं।

सजातीय पदार्थ से सजातीय पदार्थ की ही उत्पत्ति का अन्वय व्यतिरेक पाया जाने के कारण और कार्य कारणभाव के संसार व्यापी सत्य होने के कारण यह सिद्ध है कि शुभ कर्मों से शुभ जन्म और सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्मों से निकृष्ट जन्म तथा दुःख प्राप्त होते हैं। किसी अलौकिक हेतु के द्वारा ही यह अनादि घटना चक्र चलाया जा रहा है। यदि कोई ऐसा कारण न होता तो संसार में ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था न पाई जाती। पाई जाती है इसलिये ईश्वर है। न केवल अनादित्व से ही अपितु वैचित्र्य से भी अलौकिक हेतु की सिद्धि होती है।

तीसरी युक्ति 'वैचित्र्यात्' पर विचार

शंका—एक कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति हो सकती है। अनेक कार्यों के लिये अनेक प्रकार के कारण मानने की आवश्यकता नहीं है। यथा-एक ही दीपक अनेक कार्यों का कारण है जैसे-बत्ती का जलाना, अन्धकार का नाश करना, प्रकाश का विस्तार करना, तेल का रूपान्तर करना और वायु को गरम करना। इसलिये कार्य कारणभाव को मानने के लिये अनेक कारणवाद को मानने की आवश्यकता नहीं। एक से ही संसार की व्याख्या हो सकती है।

उत्तर—एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यंच समस्य न

शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥७॥

शब्दार्थ—क्व अपि-संसार में कहीं भी, एकस्य-एक पदार्थ का, क्रमः-कार्य कारणभाव, न-नहीं दिखाई देता है। समस्य च-और एक जातीय पदार्थ का, वैचित्र्यम्-कार्यों की अनेक प्रकारता से भी कोई सम्बन्ध, न-नहीं है। न च—और न ही, शक्तिभेदः—शक्तियों की अनेकता ही कारण हो सकती है। स्वभावः—यदि यह कहा जाये कि पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है तो, दुरतिक्रमः—इस नियम का अतिक्रमण करना असम्भव होगा।

व्याख्याः—जो लोग यह कहते हैं कि एक कारण से संसार की कार्यप्रणाली प्रचलित हो सकती है। चाहे वह जड़ कारण वादी हों चाहे चेतन कारण वादी हों—उनका कथन युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता। उनके सिद्धान्त में मुख्य दोष यह है कि एक पदार्थ से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। संसार में एक भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता जिससे सिद्ध हो कि एक वस्तु, विना किसी दूसरे पदार्थ की सहायता प्राप्त किये कार्य रूप हो सकती हो अथवा कार्य को उत्पन्न कर सकती हो। जड़ाद्वैतवादी चाहे एक मात्र प्रकृति या मैटर से संसार की उत्पति माने अथवा चेतनाद्वैतवादी एक मात्र ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति माने-दोनों ही संसार की समस्या का समाधान नहीं

कर सकते। इस विषय में दीपक का दृष्टान्त सर्वथा असंगत है। थोड़ा सा विचार किया जाये तो दीपक के दृष्टान्त से अनेक कारण वाद की ही पुष्टि होती है। दीपक का अर्थ है–पात्र, तेल, वत्ती और अग्नि-शिखा के क्रम पूर्वक संघात का होना। पात्र और वस्तु हैं, तेल कुछ और ही है, वत्ती इन दोनों से पृथक् हैं और अग्निशिखा इन तीनों से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। जो व्यक्ति इन चारों को एकत्रित देख कर 'दीपक' शब्द की आड़ में 'एक' समझता है वह दूसरों को जो धोखा देता ही है स्वयम् भी धोखा खा रहा है। दीपक एक वस्तु नहीं है, इसी लिये अनेक होते हुए अनेक कार्यों का कारण है। एक कारणवादी जिस भी दृष्टान्त का साहाय्य प्राप्त करना चाहेगा वही दृष्टान्त उसके सिद्धान्त का खण्डन करेगा और अनेक कारणवाद की पुष्टि करेगा। इस लिये संसार में एक ही पदार्थ नहीं है जो सब कार्यों का कारण हो सके।

यदि कहा जावे कि हमारे अभिमत कारण–ब्रह्म या प्रकृति में अनेक शक्तियें हैं जिस से वह एक हो कर भी अनेक कार्यों का कारण हो सकता है तो–ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि एक पदार्थ में अनेक शक्तियों के मानने से भी यथार्थ समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि शक्तियें उस पदार्थ (जड़ या चेतन) से भिन्न हैं या अभिन्न हैं। यदि भिन्न हैं तो अनेक कारण सिद्ध हो गये और यदि शक्तियों का अस्तित्व शक्तिमान् पदार्थ से भिन्न नहीं है तो शक्ति को शक्तिमान् और शक्तिमान् को शक्ति क्यों नहीं मानते क्या कारण है कि शक्ति शक्ति ही है और शक्तिमान् शक्ति न हो कर शक्तिमान् ही है? यदि शक्ति द्रव्य नहीं किन्तु द्रव्याश्रित गुण विशेष है तो संसार में एक भी ऐसा द्रव्य बताओ जिस की उत्पत्ति गुण विशेष से हुई हो और द्रव्य की आवश्यकता न हो। नियम यह है कि—

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्—अर्थात् द्रव्यों से द्रव्यों की और गुणों से गुणों की उत्पत्ति होती है। शक्ति को भिन्न न मानने से भयंकर आपत्ति यही आती है कि अनेक द्रव्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती परन्तु संसार अनेक द्रव्यों से भरा पड़ा है। इसलिये शक्ति की कल्पना से भी एक कारण वाद युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता

यदि कहा जावे कि—पदार्थ का स्वभाव है कि वह एक होता हुआ संसार का कारण है-तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि एक पदार्थ में दो विरोधी स्वभाव नहीं रह सकते। अग्नि गरम ही है शीतल नहीं। अग्नि प्रकाश करता है अन्धकार नहीं फैलाता। सृष्टि की उत्पत्ति और सृष्टि का संहार- ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। एक कारण में ये दोनों स्वभाव नहीं हो सकते। चेतन को कारण मान कर सृष्टि बनना उस का स्वभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि चेतन सदा निमित्त कारण ही होता है उपादान कारण नहीं और जड़ को कारण मानकर सृष्टि की उत्पत्ति और संहार उसका स्वभाव इसलिये सिद्ध नहीं होता कि उपादान कारण में दो प्रकार की विरुद्ध स्थिति विना किसी निमित्त कारण के नहीं हो सकतीं। इसलिये स्वभाव का आश्रय लेकर भी कारण को एक नहीं माना जा सकता।

जब एक कारणवाद से संसार की समस्या का किसी प्रकार से भी समाधान नहीं हो सकता और अनेक कारण मानना परमावश्यक है तो उन्हीं कारणों में ईश्वर का स्थान भी समझना चाहिये क्योंकि ईश्वर को माने विना अन्य अनेक कारणों से भी संसार की व्यवस्था नहीं बन सकती।

चौथी युक्ति—'विश्ववृत्तितः' पर विचार

विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपिनेदृशः ॥८॥

शब्दार्थ—विश्ववृत्तिः—संसार के प्राणियों की प्रवृत्ति, विफला—निष्फल, न—नहीं है। वा—और, दुःखैकफला—एक मात्र दुःख ही दुःख देने वाली, अपि—भी, न—नहीं है। दृष्टलाभफला—केवल प्रत्यक्ष फल देने वाली, अपि—भी, न—नहीं है। ईदृशः—इस प्रकार की कठोर तपश्चर्या और यागदानादि, विप्रलम्भः—धूर्तता या प्रवञ्चना, अपि—भी, न—नहीं है।

व्याख्या—अभी तक जड़ जगत् के पदार्थों को ही सामने रख कर कार्य कारणभाव पर विचार किया गया और उससे अलौकिक हेतु की सिद्धि की गई है। अब चेतन जगत् पर विचार करके भी संसार के किसी अलौकिक हेतु की सिद्धि की जाती है। संसार में प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ कर्म करता है और उस कर्म से सुख प्राप्त करना चाहता है। प्राणियों का सारा व्यवहार सुख की प्राप्ति के लिये है। लोग कर्म करते हैं और उसका फल पाते हैं। अच्छे कर्मों का फल सुख और बुरे कर्मों का फल दुःख के रूप में मिलता है। कर्म कारण ह और सुख-दुःख उसके फल हैं। यह कर्म व्यवस्था लोक परलोक को बांधने वाली एक अटूट रज्जु है।

यह नहीं कहा जा सकता कि—जीवों के कर्म निरुद्देश्य हैं अथवा उनका कोई फल नहीं है क्योंकि यदि कर्म करने का कोई प्रयोजन न होता तो किसी भी कर्म करने में किसी भी प्राणी की प्रवृत्ति ही न होती। खाने पीने और उठने बैठने से लेकर यज्ञदान और व्रतचर्या तक, सुख की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं—इसलिये विश्व की कर्म प्रवृत्ति निरुद्देश्य अथवा निष्फल नहीं है।

यह भी नहीं कह सकते कि कर्मों का उद्देश्य केवल दुःख प्राप्त करना है क्योंकि संसार में केवल दुःख ही दुःख नहीं हैं किन्तु सुख भी है। यदि दुःख को ही कर्म प्रवृत्ति का प्रयोजन माना जाये तो सुख

को किस का फल माना जायगा। यह भी एक सर्वानुभूत सत्य है कि कोई भी प्राणी दुःख को प्राप्त करना नहीं चाहता परन्तु दुःखी देखा जाता है। संसार में जहां दुःखी हैं वहां सुखी भी हैं। इसलिये संसार को दुःखरूप नहीं कह सकते। तव प्रश्न यह है कि संसार के दुःख सुख से परे भी कुछ है या नहीं।

जो लोग यह मानते हैं कि संसार के दुःख सुख से परे कुछ नहीं है उन से पूछा जाना चाहिये कि कठोर तपश्चर्या और सर्वस्व त्याग किस उद्देश्य से किये जाते हैं। संसार में इन का कोई फल नहीं मिलता और यदि मिले भी तो सर्वस्व त्याग करने वाला व्यक्ति उस फल की स्वप्न में भी आकांक्षा नहीं रखता। यज्ञ दान करने वाला व्यक्ति अपने जीवन में किसी फल की आशा नहीं रखता। क्या ये तपश्चरण और त्याग याग निष्फल हैं? जीवन में फल न मिलने से उन कर्मों को निष्फल नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्येक कर्म के लिये यह नियम नहीं कि उसका फल जीते जी ही मिल जाये। अनेकानेक कर्म इस प्रकार के हैं जिन का फल शतशः वर्षों के पश्चात् तथा कई जन्मों के बीतने पर प्राप्त होता है। इसलिये प्रत्यक्ष फल न मिलने से कर्मों को निष्फल नहीं कहा जा सकता—कभी न कभी उनका फल अवश्य प्राप्त होता है।

जो लोग त्याग याग आदि शुभ कर्मों का प्रत्यक्ष फल न देख कर इन कर्मों को प्रवञ्चना और पाखण्ड आदि कह दिया करते हैं, उनको सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि पाखण्ड और धोखा तो किसी दूसरे को ठगने के लिये किये जाते हैं—अपने आप को तो कोई धोखा नहीं देना चाहता और न ही अपने आप को कोई ठगता है। त्याग वैराग्य से सम्पन्न, शम दम तितिक्षा से युक्त और जन सम्पर्कसे दूर रहने वाला व्यक्ति—धोखा देने वाला पाखण्डी नहीं हो सकता। अतः इन कर्मों का लोकोत्तर कोई उद्देश्य अवश्य है। उसी फल को प्राप्त करने के लिये निश्रेयस मार्ग के शुभ कर्म किये जाते हैं। इन कर्मों का फल देना, कर्ता के हाथ की बात नहीं है। कर्म कर्ता से पृथक् कोई संसार की व्यवस्था करने वाला अवश्य है जो प्रत्येक जीव को उसके शुभाशुभ कर्मों का समयानुसार फल देता है वही अलौकिक हेतु परमेश्वर है।

पांचवी युक्ति—'आत्मसम्भोग' पर विचार

शंका—त्याग याग आदि कर्मों को स्वर्ग तथा मोक्ष का हेतु मानना सर्वथा अयुक्ति युक्त है क्योंकि कर्म तो क्षणिक होने से तत्काल नष्ट हो जाते हैं और यदि चिरस्थायी माना जाये तो यह प्रत्यक्ष विरोध है। अतः क्षणिक विनाश शील कर्मों से कालान्तर और जन्मान्तर में फल विशेष की व्यवस्था मानना उचित नहीं है।

उत्तर—चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥९॥

शब्दार्थ—चिरध्वस्तं—चिरकाल से नष्ट हुआ, कर्म—शुभाशुभ कर्म, प्रतिशयं विना—किसी विशेष संस्कार के विना, फलाय—फलोत्पत्ति के लिये, अलं न—समर्थ नहीं हो सकता। निर्विशेषाणाम्—परस्पर विशेषता से रहित जीवात्माओं का, सम्भोग—स्वर्ग आदि भोग, संस्कृतैः भूतैः अपि—योग्य शरीर इन्द्रियादि से भी, न—नहीं प्राप्त किया जा सकता।

व्याख्या—जिस कर्म को आज किया जाता है वह करने के साथ ही नष्ट हो जाता है परन्तु उसके नष्ट होने के कुछ काल के पश्चात् फल अवश्य उत्पन्न होता है। कर्म और फल के मध्य में कोई विशेष अतिशय अथवा संस्कारों का क्रम विद्यमान न हो तो फल की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। बीज नष्ट होता है और अंकुर उत्पन्न करता है, अंकुर शाखा को और शाखा उपशाखा को उत्पन्न करती है। इस प्रकार पत्र, पुष्प, फल और बीज क्रम से उत्पन्न होते हैं। इस आनुपूर्वी क्रम में एक उद्देश्य और संस्कार नियमपूर्वक काम कर रहा है। यदि यह संस्कार न हो तो क्रम किस के आधार पर कार्य रूप धारण कर सकता है। अच्छे बुरे कर्म, करने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं परन्तु उनका फल, सुख दुःख के रूप में बहुत समय के पश्चात् प्राप्त होता है कभी २ तो दूसरे जन्म में अथवा कई जन्मों के पश्चात् प्राप्त होता है। यह तभी हो सकता है जब कर्मों के पश्चात् किसी अतिशाय अर्थात् अदृष्टों अथवा संस्कारों की सत्ता स्वीकार की जाये ये संस्कार

प्रत्येक आत्मा के साथ विशेष सम्बन्ध रखते हैं। इन पृथक् २ संस्कारों से युक्त होते हुए प्रत्येक जीवात्मा को भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ सम्भोग सुख दुःख के रूप में प्राप्त होते हैं। यद्यपि विशेष प्रकार के सुख दुःख, विशेष प्रकार के कर्मों से तथा विशेष प्रकार के संस्कारों से ही भोगे जाते और प्राप्त होते हैं तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कारों का आश्रय केवल शरीर ही है। वास्तव में कर्म करने वाला भी आत्मा है और फल भोगने वाला भी आत्मा ही है। इसलिये कर्मों के संस्कारों का धारण करने वाला आत्मा ही है शरीर तो केवल कर्म करने और फल भोगने के साधन मात्र हैं। आत्मा शरीर से पृथक् है और कर्मों का अधिष्ठाता है। इसलिये कर्म, नाश शील होने पर भी स्वतः फल देने में असमर्थ होते हैं और कर्म,कर्ता जीवात्मा के साथ सूक्ष्म संस्कार बन कर कार्य करते हैं। यह व्यवस्था जीवात्मा की शक्ति से भी बाहर की है अतः कोई लोकोत्तर चेतन अवश्य है जो जीवों को कर्म फल की व्यवस्था सम्पादन करता है। वही ईश्वर है।

शंका—कर्म नाश के अनन्तर अदृष्ट संस्कारों से सुख दुःख रूप कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं क्योंकि नाश अर्थात् अभाव से कार्य उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्य कारणभाव के लिये किसी भाव पदार्थ का ही नियम है अभाव का नहीं। अभाव न तो किसी का कारण बन सकता है और न कार्य। इसलिये कर्म नाश के अनन्तर न तो कोई अदृष्ट नामक अभाव, सुखदुःख या अन्य शरीर की उत्पत्ति करता है और न ही उससे व्यवस्था सिद्ध होती है।

उत्तर—भावो यथा तथाभावः कारणं कार्यवन्मतः

प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥१०॥

शब्दार्थ—यथा—जिस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से, भाव—भाव पदार्थ,कार्यवत्—कार्य के समान, कारणं—कारण, है तथा—उसी प्रकार, अभावः—अभाव भी, मतः—स्वीकार किया गया है। प्रतिबन्धः—अभाव रूप प्रतिबन्ध, विसामग्रीः—कारणत्व की सामग्री से रहित है और तद्धेतुः—उस प्रतिबन्ध का कारण, प्रतिबन्धकः—प्रतिबन्ध करने वाला कोई पुरुष विशेष होता है।

व्याख्या—कार्य कारण भाव के लिये भाव पदार्थों का ही नियम नहीं है अभाव भी कार्य अथवा कारण हो सकते हैं। अग्नि जलाने के लिये दियासलाई, लकड़ी, कोयला, या घी, तेल, चूल्हा अंगीठी, और जलाने वाला व्यक्ति-ये सब भाव रूप कारण आवश्यक हैं परन्तु इतने मात्र से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कोई फूत्कार करे अथवा वायु का झोका आ जावे, लकड़ी या ईंधन पर पानी की बौछाड़ पड़े अथवा मिट्टी आदि की मार पड़े तो अग्नि नहीं जलाई जा सकती। अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध है कि इन प्रतिबन्धों अर्थात् रुकावटों के होने पर कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि प्रतिबन्ध न होवें तो अग्नि भी जलती है और दूसरे कार्य भी सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये जहां भाव रूप कारणों का होना आवश्यक है वहां कई विघ्नों का अभाव होना भी आवश्यक है। इसी भाव को अधिक स्पष्ट करने के लिये दो उदाहरणों पर विचार कर लीजिये-अन्धकार का नाश, मूर्खता का नाश, दारिद्र्य का नाश और पाप का नाश-ये सब अभावरूप कार्य हैं इन की उत्पत्ति क्रमशः प्रज्वलित अग्नि, ज्ञानसंचय, धनोपार्जन तथा पुण्य सम्पादन द्वारा होती है। इन में कारण भाव रूप हैं और कार्य अभाव रूप हैं अर्थात् भाव रूप कारणों से अभावरूप कार्यों की उत्पत्ति। अभाव रूप कारणों से भावरूप कार्यों की उत्पत्ति के दृष्टान्त भी दिये जा सकते हैं यथा-आलस्य के परित्याग से जागरुकता भीरुता के त्याग से वीरता, दुराचार के त्याग से यशस्विता और रोगनाश से स्वास्थ्य की सिद्धि होती है। अतः यह नहीं कह सकते कि भाव पदार्थ ही कार्य कारण होते हैं अभाव नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अभाव पदार्थ भी किसी के कारण और किसी के कार्य होते हैं और कार्य कारण भाव के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह भाव-पदार्थों पर ही लागू हो-अभावों में भी कार्य कारण भाव का नियम पाया जाता है।

यदि प्रतिबन्ध को शक्ति माना जाये और साथ ही उसे कारण भी कहा जाये तो यह कल्पना ठीक नहीं क्योंकि न तो शक्ति को गुण विशेष से अतिरिक्त पदार्थ विशेष ही माना जा सकता है और न ही कारण कहा जा सकता है। इतना अवश्य है कि जो व्यक्ति या वस्तु प्रतिबन्ध करती है और कार्य की उत्पत्ति नहीं होने देती वह व्यक्ति

या वस्तु अर्थात् प्रतिवन्धक ही कारण होता है। इसलिये कार्य मात्र के प्रति, कार्य का प्रतिवन्धक नहीं रहना चाहिये। यदि प्रतिवन्धक विद्यमान हो तो कार्य की उत्पत्ति नहीं होती और यदि प्रतिवन्धक का अभाव हो तो कार्योत्पत्ति हो जाती है। अत एव प्रतिवन्ध का भाव, कार्य मात्र के प्रति कारण है।

जिस पकार अग्नि में ही दाहक शक्ति है और अग्नि के अतिरिक्त ईंधन आदि में जलाने की योग्यता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में ही सुख दुःख भोग के अदृष्ट संस्कारों को धारण करने की योग्यता है शरीर इन्द्रिय और भोग्य वस्तुओं में नहीं। अग्नि की दाहक शक्ति का प्रभाव लकड़ी आदि दहन शील पदार्थों पर पड़ता है और वे जलने लगते हैं। इसी प्रकार आत्मा के अदृष्ट संस्कारों अर्थात् कर्म के सूक्ष्म परिणामों का प्रभाव जब शरीर और इन्द्रियों पर पड़ता है तो शरीर में सुख दुःख भोगने की योग्यता आ जाती है। यही कारण है कि आत्मा के शरीर त्यागने के पश्चात् शरीर इन्द्रिय चैतन्य हीन हो जाते हैं और सुख दुःख को अनुभव नहीं कर सकते। इसी वात को स्पष्ट करने के लिये विशेष विचार किया जाता है।

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥११

शब्दार्थ—प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः—प्रोक्षण और अभ्युक्षणादि क्रियाओं के द्वारा, संस्कारः—चावल आदि अन्नों का जो संस्कार अर्थात् संशोधन किया जाता है वह, पुंसःएव—पुरुष का ही, इष्टः—स्वीकार किया गया है। पाकजादयः विशेषाः—पाकज आदि विशेषतायें परमाणूनाम्—परमाणुओं के, स्वगुणाः—अपने निजी गुण हैं।

व्याख्या—भोजन बनाने के लिये चावल आदि अन्नों को पकाने से पहिले शुद्ध किया और धोया जाता है। इस क्रिया से भोजन करने वाले व्यक्ति को ही सुख मिलता है। यदि विना शुद्ध किये ही भोजन बनाया जाये तो इस से कष्ट भी उसी व्यक्ति को होता है। इस संशोधन और सस्कार का उद्देश्य अन्न के लिये नहीं है। इसीलिये अन्न को सुख दुःख अथवा हानि लाभ भी नहीं होते, होते हैं तो उस चेतन

पुरुष को ही होते हैं जो उस अन्न का उपभोग करता है। इसी प्रकार सदाचार और नियम पूर्वक रहन सहन तथा यज्ञ दान तप आदि शुभ कर्म, शरीर द्वारा किये जाते हैं परन्तु इनका उद्देश्य जीवात्मा के लिये होता है। क्योंकि जीवात्मा ही सुख दुःख का भोगने वाला है-शरीर तो जड़ होने से सर्वथा अनुभव शून्य है। अतः कर्मों के नाश के अनन्तर सूक्ष्म संस्कारों का आश्रय या अधिष्ठान शरीर नहीं हो सकता है।

अन्न की शुद्धि के पश्चात्, पाचन क्रिया का प्रभाव अन्न के प्रत्येक कण पर होता है जिस से अन्न के परमाणुओं में पाकज गुण आ जाते हैं अर्थात् अग्नि के संयोग से अन्न के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में अन्तर आ जाता है। इससे अधिक अन्न को किसी सुख दुःख या स्वर्ग नरक की प्राप्ति नहीं होती। शरीर भी ब्रह्मचर्यादि शुभ संस्कारों से आकर्षक और चिरस्थायी बन जाता है परन्तु शुभ कर्मों द्वारा सुख अथवा स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति करना जड़ शरीर का काम नहीं—आत्मा का काम है।

जिस प्रकार अन्न के प्रत्येक परमाणु, पर अग्नि का प्रभाव पड़ता है और उनके निजी गुण बराबर बने रहते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा के निजी गुण होते हैं जिन का कभी नाश नहीं हो सकता। इसके साथ ही शरीर संयोग से कुछ विशेष गुण भी आते जाते हैं जिनके कारण आत्मा आत्मा में भेद होता है तथा प्रत्येक आत्मा को पृथक् २ सुख दुःख आदि की प्राप्ति होती है। अतः परमाणुओं पर विचार करने से सिद्ध होता है कि—जिस प्रकार अपने २ विशेष गुणों का आश्रय प्रत्येक परमाणु है उसी प्रकार अपने २ कर्म संस्कारों तथा भोग संस्कारों का आश्रय प्रत्येक जीवात्मा है—शरीर नहीं।

शंका—अनेक प्रकार की उच्च नीच योनियों में भ्रमण करना और पशु पक्षी आदि के शरीर धारण करना जीवों का स्वभाव है अथवा किसी निमित्त से होता है?

उत्तर— निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपिवा ॥१२॥

शब्दार्थ—उद्भवानुद्भवादयः—वायु अग्नि आदि का उद्भूत अथवा अनुद्भूत स्पर्श रूपादि गुण वाला होना, निमित्तभेद संसर्गात् —किसी अदृष्ट निमित्त के कारण होता है। सन्निधानेन—प्रतिष्ठा करने से, अपि वा— अथवा, प्रत्यभिज्ञानतः— पहिचान से, देवताः— देवता भी माने गये हैं।

व्याख्या—संसार के उपादान कारण परमाणु हैं और परमाणुओं में परस्पर भेद का कारण उनके विशेष गुण हैं। कार्यरूप पदार्थों में प्रत्येक भूत के अपने विशेष गुण स्पष्ट प्रतीत होते हैं परन्तु कारणरूप परमाणुओं में स्पष्ट नहीं होते। परमाणु संयुक्त होते हैं तो कार्य पदार्थ बनजाते हैं और पदार्थ टूटते हैं तो परमाणु बनजाते हैं। यह कार्य कारणभाव सम्बन्ध न केवल द्रव्यों में ही है अपितु गुणों में भी है क्योंकि कार्य द्रव्य, कारण द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं और कार्यगुण, कारणगुणों से उत्पन्न होते हैं। कार्यरूप में गुणों का उद्भूत स्वरूप रहता है और कारणावस्था में अनुद्भूत स्वरूप रहता है। वायु में स्पर्श है परन्तु जब तक पंखे को हिलाया न जाये तब तक उसके उद्भूत स्पर्श का त्वक् इन्द्रिय से ज्ञान नहीं होता अर्थात् अनुद्भूत ही रहता है। दियासलाई में अग्नि है और उसकारूप अनुद्भूत है अर्थात् चक्षुः इन्द्रिय से प्रतीत नहीं होता। अग्नि के रूप की प्रतीति तब तक प्रतीत नहीं होती जब तक दियासलाई को घिसा न जाये इसी प्रकार जल का वाष्प और हिम तथा ओले आदि बनने के लिये अग्नि आदि निमित्त की आवश्यकता है। अतः अनुद्भूत को उद्भूत रूप में आने के लिये किसी निमित्त की बराबर अपेक्षा रहती है। इसी नियम के अनुसार शरीरों का उद्भव किसी निमित्त विशेष के संसर्ग से ही हो सकता है। वह निमित्त, जीवात्मा के कर्मों के सूक्ष्म संस्कार ही हैं जिनके प्रभाव से शरीर की अथवा सुख दुःख की अनुभूति होती है। यदि वे न हों तो कर्म फल की व्यवस्था नहीं रह सकती।

कई लोग मूर्तिपूजा का आश्रय लेकर इस सत्य की उपेक्षा किया करते हैं परन्तु विचार किया जावे तो यह ठीक सिद्ध नहीं होता क्योंकि न तो मूर्ति में मन्त्रों के द्वारा प्राण ही प्रवेश करते हैं न ही चाण्डाल आदि के स्पर्श से प्राण निकलते हैं—मूर्ति जैसी की तैसी रहती है। यदि मूर्ति में

प्राण प्रतिष्ठित माने जावें तो लाख यत्न करने पर भी मूर्ति खाती क्यों नहीं, पानी पीने के लिये मुख क्यों नहीं खोलती, मूर्ति के फुसफुसों में प्राणों का संचालन क्यों नहीं होता, मूर्ति की नाड़ियों में रक्त संचालन क्यों नहीं होता और प्राण धारियों के समान शौचोत्सर्ग आदि अन्य जीवन क्रियायें क्यों नहीं होती ? जब मन्त्रों द्वारा प्राण शक्ति ही नहीं आती तो चाण्डालादि नीच पुरुषों के स्पर्श करने से शक्ति का नाश भी नहीं माना जा सकता। इतना अवश्य है कि जो लोग मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा के द्वारा किसी देवता का सन्निधान मानते हैं अथवा मूर्ति को देख कर प्रत्यभिज्ञान या पहचान करके निश्चय करते हैं कि यह अमुक देवता है—उन लोगों के सिद्धान्त को अभ्युपगम करके भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि अदृष्ट संस्कारों में कर्मफल प्रदान करने की शक्ति है।

जयेतर निमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम्
परीक्ष्य समवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥१३॥

शब्दार्थ—परीक्ष्यसमवेतस्य—परीक्षणीय व्यक्ति विशेष के साथ समवाय सम्बन्ध रखने वाले, जयेतरनिमित्तस्य—जीत न होने के किसी अदृष्ट कारण के, वृत्तिलाभाय—फलप्राप्त करने के लिये, परीक्षाविधयः—अनेक प्रकार की तुलारोहण आदि परीक्षायें, केवलं—केवल, मताः—स्वीकार की गई हैं।

व्याख्या—किसी व्यक्ति के पाप पुण्य या सत्यासत्य को जानने के लिये लोगों में कई प्रकार की परीक्षण विधियें जैसी आज प्रचलित हैं वैसे ही पहिले भी प्रचलित थीं। उनमें से तुलारोहण भी एक कल्पना थी। कहा जाता था कि पापी का पलड़ा भारी हो जाता था और पुण्यात्मा का हल्का। वास्तव में शुभाशुभ कर्मों का सम्बन्ध न तो तुला के कांटे से है और न ही पलड़े से। सम्बन्ध तो उस चेतन पुरुष से है जो शुभाशुभ कर्म करता है। इस जीत हार के किसी अदृष्ट कारण के जानने और उससे अच्छा बुरा परिणाम निकालने के लिये ही इन कल्पनाओं का प्रयोग किया जाता रहा है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के

अदृष्ट संस्कारों के कारण ही तुला का पलड़ा झुकता वा उठता है। जो लोग तुलारोहण की कल्पना पर विश्वास करते हैं उनको उनके ही मत के द्वारा अच्छी प्रकार समझाया जा सकता है कि जीवात्मा के कर्म नष्ट हो कर भी सूक्ष्म संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं और सुख दुःख रूप फल उत्पन्न कर सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो पलड़े के भारी या हल्का होने का निमित्त क्या है? निमित्त है और वह कर्म कर्ता पुरुष के साथ समवेत है—तुला के पलड़े के साथ नहीं। इस से भी सिद्ध होता है कि जैसे प्रत्येक परमाणु में विशेषता है वैसे ही प्रत्येक आत्मा में भी विशेषता है। वह विशेषता प्रत्येक जीव के कर्मों के अदृष्ट संस्कारों की ही है जो उसके साथ रहते और सुख दुःख का फल पहुंचाते हैं क्योंकि आत्मा के साथ ही उनका समवाय सम्बन्ध है।

यह ग्रन्थ ईश्वर सिद्धि को मुख्य रख कर लिखा गया है। ईश्वर की सिद्धि का लाभालाभ जीवात्मा को ही प्राप्त होता है क्योंकि जीवों को स्वीकृत कर्मों का शुभाशुभ फल, लोक परलोक के रूप में तभी प्राप्त हो सकता है जब कोई न्याय कारी कर्माध्यक्ष हो। इसीलिये ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये श्री उदयनाचार्य जी ने आत्मसम्भोग की युक्ति का वर्णन किया है। जहां तक जीवों का कर्मों के फलों के साथ सम्बन्ध है वहां तक युक्ति का प्रयोग कर दिया गया है। परन्तु आत्मा के विषय में बहुत सी ऐसी शंकायें जो सांख्यों चार्वाकों और बौद्धों के द्वारा उठाई गई हैं। यदि उन पर विचार न किया जावे तो कर्मफल की व्यवस्था का समन्वय नहीं हो सकता। अतः आत्मा के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक विचार किया जाता है।

शंका—कई लोगों का कथन है कि-आत्मा कर्म कर्ता नहीं है अतः उसके साथ कर्म संस्कारों का सम्बन्ध नहीं है बुद्धि को कर्ता मान कर व्यवस्था हो सकती है।

उत्तर—कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः
अन्यथानपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः ॥१४॥

शब्दार्थ—कर्तृधर्मा-कर्ता के धर्म, नियन्तारः- विशेष नियम से सम्बन्ध है, स एव च-और वह ही, नः- हमारे मत में, चेतिता—

चेतन आत्मा है। अन्यथा— यदि ऐसा न माना जावे तो, अनपवर्गः— मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी, अथवा—अथवा, ध्रुवः—सदा रहने वाला, असंसारः— मोक्ष ही बना रहेगा।

व्याख्या—बुद्धि को कर्ता मानने से दो भयंकर दोष आते हैं— सदा का बन्धन या फिर सदा का मोक्ष। जिनके मत में बुद्धि को जड़ प्रकृति का विकार माना गया है। उनके मत में जड़ बुद्धि को कर्ता स्वीकार करने से यह भी मानना पड़ेगा कि बुद्धि में कर्ता के गुण हैं परन्तु जड़ वस्तु में चेतन आत्मा के कर्तृत्व आदि धर्म सिद्ध नहीं हो सकते। कर्ता वही हो सकता है जिस में किसी कर्म के करने की इच्छा हो क्यों कि विना इच्छा के क्रिया नहीं की जा सकती। जड़ पदार्थों में क्रिया होती है और वह क्रिया उनकी अपनी इच्छा से उत्पन्न नहीं हुआ करती। इच्छा चेतन में ही रह सकती है। जब चेतन इच्छा करता है तो उसकी इच्छानुकूल जड़ में क्रिया होती है। इसीलिये आत्मा को कर्म करने में स्वतन्त्र कहा गया है। बुद्धि जड़ होने से स्वतन्त्र नहीं है किन्तु आत्मा की इच्छा के अनुसार कर्म करती है। यदि बुद्धि को कर्ता मानना है तो चेतन भी मानना होगा क्योंकि कर्ता के धर्मों के लिये यही नियम है कि इच्छा और कृति एक ही अधिकरण में रहें और जहां इच्छा तथा कृति रहेंगे उसे ही चेतन मानना होगा। अतः या तो बुद्धि को चेतन मानो या कर्तृत्व शक्ति से विहीन जड़ वस्तु स्वीकार करो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि जड़ है चेतन कर्ता नहीं। इसीलिये कर्मों के संस्कार चेतन आत्मा के साथ सम्बन्ध रखते हैं-बुद्धि के साथ नहीं। वह आत्मा बुद्धि को साधन बना कर विचारने आदि का काम करता है-जड़ बुद्धि में इच्छा पूर्वक क्रिया करने की योग्यता नहीं है। यदि कोई बुद्धि को चेतन मान कर आत्मा की अनावश्यकता सिद्ध करे तो यह केवल नाम मात्र का भेद होगा-वस्तु तत्व का नहीं। सिद्धान्त यह है कि चेतन को क्रिया करने के लिये साधन की आवश्यकता है और साधन जड़ होता है उस को कर्म करने के लिये चेतन की आवश्यकता होती है क्योंकि विना चेतन पुरुष की इच्छा के साधन द्वारा कोई क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। इच्छा, कृति और

भोग-ये तीनों जिस एक तत्व में पाये जाते हैं वही चेतन है। वही कर्म कर्ता है और वही कर्म फल का भोक्ता है।

शरीर से अतिरिक्त आत्मा को कर्ता भोक्ता मानने में चार्वाक को बड़ी आपत्ति है। उसका कथन है कि शरीर ही कर्ता भोक्ता है। चेतनता शरीर में ही उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है। आत्मा नामक कोई चेतन पुरुष नहीं है। इसका उत्तर यह है कि—

नान्य दृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्
वासना संक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरेः ॥१५॥

शब्दार्थ—अन्यदृष्टम्—किसी के देखे हुए पदार्थ को, अन्यः—कोई दूसरा व्यक्ति, न स्मरति—स्मरण नहीं करता है। अपक्रमात्—क्रम के नाश होने के कारण, भूतम्—शरीर, एकम् न—एक नहीं है अर्थात् जो पहिले था वही अब नहीं है। यदि कहा जावे कि, वासना संक्रमः—वासनाओं का संक्रमण होता है, न अस्ति—तो ऐसा भी नहीं है। स्थिर च—और स्थिर पक्ष में परमाणुओं के अन्दर, गत्यन्तरम्—उपादानोपादेय भाव अथवा कोई दूसरी गति, न—सिद्ध नहीं होती है। अतः शरीर से पृथक् आत्मा है।

व्याख्याः—चारवाकों अर्थात् वैज्ञानिक भौतिकवादियों का कहना है कि-शराब के नशे के समान, चैतन्य उत्पन्न हो जाता है-जीव या चेतन आत्मा, शरीर से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। यदि सचमुच ऐसा ही है और शरीर से पृथक कोई चेतन व्यक्ति नहीं है तो स्मृति के, नियम कैसे ? स्मृति का नियम है कि जो व्यक्ति किसी वस्तु को अनुभव करता देखता सुनता है, वही व्यक्ति देशान्तर या कालान्तर में उस वस्तु का स्मरण करता है। जिस व्यक्ति ने किसी वस्तु को पहिले कभी देखा सुना न हो वह उस वस्तु का कभी स्मरण नहीं कर सकता इस प्रकार के कई एक स्मृति के नियम हैं। ये नियम तभी सिद्ध हो सकते हैं जब शरीर से पृथक कोई आत्मा हो। स्मृति के उपरोक्त नियम ऐसे नहीं कि उनकी अवहेलना की जा सके या उनकी व्यापकता को अस्वीकार किया जा सके क्योंकि यदि ऐसा हो तो देवदत्त की

देखी वस्तु को विष्णुमित्र को स्मरण करना चाहिये-परन्तु ऐसा न हो कर देवदत्त ही अपनी अनुभूत वस्तु को स्मरण करता है।

जिस प्रकार प्रत्येक शरीर, उसके अंग प्रत्यंग, चक्षु, कान, नाक हाथ-पैर आदि तथा शरीर के कर्म देखना, सुनना, खाना-पीना आदि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार प्रत्येक चेतन आत्मा, आत्मा के कर्म सोचना, विचारना, इच्छा करना, अनुभव करना, स्मरण करना, निश्चय करना इत्यादि सर्वथा एक दूसरे से भिन्न २ हैं। जैसे यह सत्य है कि-देवदत्त के भोजन करने से विष्णुमित्र की क्षुधा निवृत्त नहीं होती और विष्णुमित्र के विद्याभ्यास करने से यज्ञदत्त की योग्यता वृद्धि नहीं होती तथा यज्ञदत्त के धनोपार्जन करने से धर्मदत्त की दरिद्रता दूर नहीं होती। वैसे ही यह भी सत्य है कि एक के देखे सुने या अनुभव किये पदार्थ को दूसरा व्यक्ति स्मरण नहीं करता। ये स्मृति के नियम सिद्ध करते हैं कि शरीर से पृथक कोई आत्मा है जो स्मरण करता है। भौतिकवादी कहते हैं कि स्मृति भी शरीर का ही धर्म है- मस्तष्क की एक क्रियाविशेष का नाम ही स्मृति है। परन्तु विचारिये—एक युवा पुरुष अपने वाल्यकाल की घटनाओं का स्मरण करता हुआ कहता है कि मैंने जिस देवदत्त को कलकत्ता में देखा था उसी को आज आगरा में देख रहा हूं। इस स्मृति में एक वात निर्विवाद है और वह यह कि मैंने ही इसको देखा था और मैं ही इसको देख रहा हूं अर्थात् अनुभव करने वाला और स्मरण करने वाला एक ही व्यक्ति है। यदि यह अनुभव करने वाला और स्मरण करने वाला आत्मा नहीं किन्तु शरीर ही है तो स्मृति के नियम विरुद्ध होने से शरीर को स्मृति नहीं हो सकती क्योंकि वाल्यकाल में मैं (शरीर) और था और आज यौवन काल में मैं (शरीर) और हूं। वाल्यावस्था में शरीर का, शरीर के अंगों का और शरीर की शक्तियों का परिमाण बहुत छोटा होता है तथा यौवनावस्था में शरीर और उसके अंगों तथा शक्तियों का परिमाण अधिक बड़ा होता है। वाल्य काल का शरीर और यौवन काल का शरीर 'एक' नहीं कहे जा सकते। विज्ञान की प्रत्येक शाखा से सिद्ध है कि शरीर में पहिले अंशों की न्यूनता होकर दूसरे अन्य अंशों की वृद्धि होती है। और प्रत्येक शरीर के परमाणु सात वर्ष के पश्चात् सर्वथा दूसरे ही बदल जाते हैं अर्थात्

कोई भी पिछला परमाणु शेष नहीं रहता जब भौतिक शरीर में इतना परिवर्तन हो जाता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि बाल्यकाल वाले शरीर की देखी हुई वस्तु को उसी शरीर ने स्मरण किया जब कि युवावस्था में उस शरीर का एक भी परमाणु विद्यमान नहीं रहता। अतः शरीर को ही आत्मा मानने पर स्मृति नहीं हो सकती, परन्तु स्मृति होती है इसलिये शरीर से सर्वथा भिन्न चेतन आत्मा है।

भौतिक विज्ञानवादी बौद्ध यदि कहे कि–शरीर के परमाणु बदलने पर पहिले परमाणु अगले परमाणुओं को अपना अनुभव दे देते हैं और वे अपने नाश के समय अन्य परमाणुओं को अनुभव देते हैं। इस प्रकार एक पमारणु के गुणधर्म दूसरे परमाणु में संक्रमित हो कर चले जाते हैं और स्मृति आदि का व्यवहार सिद्ध होता रहता है जैसा कि कस्तूरी, कर्पूर, अथवा सुवासित गन्ध वाले द्रव्यों को किसी वस्त्र में रखने से उसकी गन्ध-वासना, वस्त्र में आ जाती है। इस प्रकार वासना का संक्रमण बराबर होता रहने से स्मृति-नियमों की व्याख्या की जा सकती है अतः शरीर से पृथक किसी चेतन आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है।

विचार किया जावे तो भौतिक विज्ञान-वादियों का यह मत ठीक नहीं है क्योंकि क्षणिक स्वभाव वाले परमाणुओं में वासना-संक्रमण के लिये उपादान–उपादेय भाव को स्वीकार करके भी स्मृति नियमों की व्यवस्था नहीं की जा सकती। यदि परमाणुओं को क्षणस्थायी मान कर निर्वाह किया जावे तो अन्य की देखी वस्तु का स्मरण किसी अन्य को होना चाहिये। परन्तु नहीं हो सकता–अतः यह मत ठीक नहीं है। यदि परमाणुओं को चिरस्थायी माना जावे तो भी स्मृति की व्याख्या नहीं की जा सकती। स्थिर पक्ष में प्रधान दोष यही है कि हाथ के कट जाने से हाथ के अनुभव का संक्रमण शरीर के अन्य भाग में मानना होगा तथा पैर, नाक, कान, के कट जाने और आंख के फूट जाने तथा किसी अन्य इन्द्रिय के अशक्त हो जाने से उन २ अंगों का अनुभव, शेष शरीर में संक्रमित हुआ मानना होगा। परन्तु ऐसा माना नहीं जा सकता क्योंकि हाथ-पैर आदि अंगों के खण्डित हो जाने से उन २ के अनुभव भी उन २ के साथ खण्डित होंगे और शेष शरीर में संक्रमण न कर सकेंगे। तब शेष शरीर को उन २

खण्डित अंगों के अनुभवों की स्मृति कभी भी न हो सकेगी। इस प्रकार स्थिरपक्ष में स्मृति-विलोप का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः स्मृति के नियमों से यह सिद्ध होता है कि अंगों के अनुभव, शरीर में वासित अथवा संक्रमित नहीं होते किन्तु अनुभव और स्मृति का अधिष्ठान कोई चेतन है और वह शरीर तथा अगों उपांगों से सर्वथा भिन्न है।

क्षणिकवाद की दृष्टि से 'वासना-संक्रमण' की पुष्टि करने वाले-भौतिक विज्ञानवादी बौद्ध के विचारों की परीक्षा करना भी आवश्यक है। अतः अब यह विचार किया जाता है कि परमाणुओं को क्षणिक अर्थात् क्षणमात्र-स्थायी मान कर भी स्मृति की व्याख्या नहीं हो सकती।

शंका—बौद्धों का कथन है कि जो भी वस्तु है वह क्षणिक स्वभाव वाली है। क्षणिक परमाणुओं के गुणधर्म, क्षण के अनन्तर क्रमागत परमाणुओं में संक्रमित होते हैं और स्मृति की व्यवस्था कर सकते हैं अतः शरीर के परमाणु पुञ्ज से अतिरिक्त किसी अन्य चेतन आत्मा को मानना निरर्थक है। यदि माना भी जावे तो वह आत्मा भी क्षण में परिवर्तनशील कोई अनित्य वस्तु ही सिद्ध होगा—नित्य अविनाशी-तत्व नहीं।

उत्तर—न वैजात्यं विना तत् स्यात् न तस्मिन्ननुमा भवेत्
विना तेन न तत्सिद्धिः नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥१६॥

शब्दार्थ—वैजात्यं विना- भिन्न जातीयता को स्वीकार किये विना, तत्—क्षणिकत्व, न स्यात्—सिद्ध नहीं हो सकता। तस्मिन्—और भिन्न जातीयता को स्वीकार करने पर, अनुमा—अनुमान भी, न भवेत्—नहीं हो सकता। तेन विना—और अनुमान के विना, तत् सिद्धिः—क्षणिकत्व की सिद्धि, न—नहीं हो सकती। निश्चयं विना—और निश्चयात्मक सविकल्प ज्ञान के विना, अध्यक्षं न—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है

और न ही अनुमान प्रमाण है। बात यह है कि-क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये बीज आदि में बीजत्व आदि के अतिरिक्त कोई अन्य जातीयता स्वीकार करनी पड़ेगी। और विजातीयता स्वीकार की जावे तो उसकी सिद्धि के लिये कोई अनुमान प्रमाण होना चाहिये। क्योंकि अनुमान के विना वैजात्य की सिद्धि नहीं हो सकती तो क्षणिकत्व की कैसे होगी? रह गया प्रत्यक्ष, सो वह भी न तो वैजात्य का साधक है और न ही क्षणिकत्व का, कारण यह है कि-सविकल्पक प्रत्यक्ष के विना निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि नहीं होती और यह तभी हो सकता है जब स्थिर पक्ष को स्वीकार किया जावे, परन्तु ऐसा मानते ही क्षणिकत्ववाद का दुर्ग धडाम से धराशायी हो जायेगा। इस तत्व को स्पष्ट करने के लिये बौद्धों की प्रक्रिया पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है:—

बौद्ध कहते हैं कि-बीज क्षणिक अर्थात् क्षण २ में परिवर्तन शील है। जो बीज क्षेत्र में डाला गया तथा अंकुर उत्पन्न करता है व जो बीज बोरे अथवा कोठे में बन्द है-इन में बड़ा अन्तर है। बोरे आदि से निकाल कर जब बीज को क्षेत्र में डाला जाता है तब उससे अंकुर उत्पन्न होता है। यह अंकुरोत्पत्ति क्षणिक परिणाम के कारण होती है। कुशूलस्थ बीज में यह बात नहीं-कुशूल आदि में बन्द पड़ा हुआ बीज अंकुरोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं होता। क्षेत्रस्थ बीज में 'कुर्वद्रूपत्व' अर्थात् अंकुरोत्पत्ति क्रिया है-कुशूलस्थ बीज में नहीं। अतः अंकुर का कारण बीजत्व नहीं किन्तु 'कुर्वद्रूपत्व' है। यह 'कुर्वद्रूपत्व' बीजत्व से भिन्न जाति विशेष है। विचार यह करना है कि कुशूलस्थ बीज भूमि में पड़ जाने से क्या बीजत्व-विहीन हो जाता है और 'कुर्वद्रूपत्व' नाम की कोई विशेष जाति उसमें आजाती है अथवा वह बीजत्व जाति वाला बीज ही रहता है? यदि 'कुर्वद्रूपत्व' पृथक जाति है तो उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण होना चाहिये। क्योंकि प्रमाण के विना 'कुर्वद्रूपत्व' की सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार बीजत्व जाति वाले प्रत्येक बीज में उसकी जाति का, चक्षुः आदि इन्द्रियों से ज्ञान होता है, उस प्रकार 'कुर्वद्रूपत्व' जातिका किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष नहीं होता। अंकुर आदि को उत्पन्न करने के लिये बीज ही लिये जाते हैं- 'कुर्वद्रूपत्व' जातिमान् कोई पदार्थ

विशेष नहीं लिया जाता। चावल चाहने वाला व्यक्ति धान की खोज में निकलता है—'कुर्वद्रूपत्व' की खोज में नहीं। इसी प्रकार गेहूं चना आदि अन्न पैदा करने की इच्छा वाला व्यक्ति गेहूं और चना के बीजों को प्राप्त करना चाहता है—'कुर्वद्रूपत्व' को नहीं। संसार की किसी मंडी में धान, गेहूं चना, जौ तथा उड़द, मूंग और मक्का, बाजरा आदि के बीजों के ढेर के ढेर मिल सकते हैं परन्तु 'कुर्वद्रूपत्व' नाम वाली कोई वस्तु कहीं नहीं मिल सकती। यदि 'कुर्वद्रूपत्व' जाति वाला कोई पदार्थ संसार प्रसिद्ध होता और वह अन्नोत्पत्ति का बीज के समान मुख्य कारण होता तो संसार की मंडियों में 'कुर्वद्रूपत्व' के भण्डार भरे मिलते, परन्तु ऐसा न हुआ और न है। बीज की ही आवश्यकता रही है और वही रहेगी।

यह बात ठीक है कि बीज तभी अंकुरादि उत्पन्न करने में सामर्थ्यवान् होता है जब उत्पत्ति के नियमानुसार बीज को सहकारी कारण— अनुकूल भूमि, अनुकूल ऋतु तथा जल सिंचन आदि प्राप्त हों। इतने से यदि बीज की उपादेयता को अनावश्यक समझ 'कुर्वद्रूपत्व' जाति वाले पदार्थ की आवश्यकता मानी जावे तो यह एक व्यर्थ की कल्पना कही जायेगी। एक बात और है और वह यह कि यदि बीज स्थिर नहीं है अर्थात् अंकुर उत्पन्न करने तक वह बीजत्व जाति वाला नहीं रहता तो सहकारी कारणों की अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिये, परन्तु होती है और वह बीज ही को होती है। यह तभी हो सकती है जब बीज को क्षणिक न मान कर स्थिर ही माना जावे। अतः जिस 'कर्वद्रूपत्व' जाति को मानकर क्षणिकत्व की सिद्धि करने का प्रयास किया जाता है वह प्रमाण शून्य है क्योंकि कोई भी प्रमाण, बीजत्व का निरादर करके 'कुर्वद्रूपत्व' की जाति-विशेष सिद्ध नहीं कर सकता।

अनुमान से क्षणिकत्व की सिद्धि न देख कर विज्ञान वादी यदि प्रत्यक्ष प्रमाण का आश्रय लेना चाहे और यह कहे कि प्रत्यक्ष से सब पदार्थों का क्षणिक होना सिद्ध होता है—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सविकल्पक और निर्विकल्पक किसी भी वस्तु पर दृष्टिपात करने से पहिले पहल 'यह' या 'वह' इतना मात्र ज्ञान होता है। इस ज्ञान में 'कौन या कैसा' 'ऐसा या वैसा'

इत्यादि गुण विषयक विकल्प नहीं होता, इसलिये प्रथम क्षण में होनेवाले ज्ञान को निर्विकल्पक कहते हैं इसके बाद 'यह ऐसा है' 'वैसा है' अर्थात् दृष्ट वस्तु के आकार-प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान में वस्तुके गुण-धर्मों का ज्ञान होता है। इस लिये द्वितीय क्षण में होने वाले इस ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। ये दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान, क्षणिकवादी के मत में क्षणिक हैं, प्रथम क्षण में होने वाले निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता तो क्षण भर में लुप्त हो गई फिर उस नष्टज्ञान से द्वितीय क्षण में होने वाले निश्चायक सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? इस लिये सविकल्पक ज्ञान को जब तक स्थिर स्वीकार न किया जावे तब तक बौद्धाभिमत निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि नहीं होती और ऐसे प्रत्यक्ष से क्षणिकत्व की नहीं अपितु स्थिरभाव की सिद्धि होती है। अतः क्षणिकत्व विज्ञान की सिद्धि में न तो प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और न ही अनुमान, अतएव क्षणिकवाद अयुक्ति-युक्त तथा प्रमाण शून्य सिद्धान्त है।

शंका—सन्देह वाद की दृष्टि से कहा जा सकता है कि पदार्थ क्षण भंगुर हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञामात्र से सन्देह का अभाव नहीं होता।

उत्तर—स्थैर्यदृष्ट्योर्न सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः
एकता निश्चयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ— स्थैर्यदृष्ट योः—पदार्थों की स्थिरता तथा उनके विषयमें सन्देहः न-सन्देह नहीं हो सकता। प्रामाण्ये—पदार्थों के प्रमाण होने में भी, विरोधतः-विरोध पाये जाने के कारण, न— सन्देह नहीं हो सकता। येन—जिस नियम से, क्षणे-क्षणिक मानने पर एकता निश्चयः-पदार्थ के एक होने का निश्चय होता है, तेन— उसी नियम के कारण, स्थिरे—पदार्थ की स्थिरता के विषय में, मतः—उसके एक होने का निश्चय होता है।

व्याख्या— संसार के व्यवहार में पदार्थों की स्थिरता का जितना महत्व है उतना किसी भी दूसरी बात का नहीं है, प्रतिदिन घटपटादि तथा गृह मनुष्य आदि को देख कर लोग कहते हैं कि—यह वही वर्तन

हैं जिसको पिछले वर्ष खरीदा था, परसों इसी वर्तन में खिचड़ी बनाई थी, पीतल की परात भी वही है जिस में मेरी माता जी चावल धोया करती थीं, यह वही कोट है, जिसको मेरे पिता जी पहना करते थे, यह वही घर है, जिसको दस वर्ष हुए हमारे पिता जी ने बनवाया था, यह वही व्यक्ति है, जिसको दो वर्ष हुए मैंने कलकत्ता में देखा था। यह पदार्थों का प्रत्यभिज्ञान अर्थात् स्मरण करने के पश्चात् निश्चय करना सिद्ध करता है कि पदार्थ क्षणिक नहीं हैं किन्तु स्थिर स्वभाव वाले हैं।

क्षणिक विज्ञानवादी कहते हैं कि—पदार्थों के विषय में केवल प्रत्यभिज्ञा ही नहीं होती किन्तु सन्देह भी होता है। यह वही पदार्थ है या कुछ और? यह वही वस्त्र है या कोई और?—इत्यादि सन्देह भी संसार में पाये जाते हैं। अतः सन्देह के पाये जाने से क्षणिकता की सिद्धि होती है स्थिरता की नहीं, यदि ऐसा ही है तो क्षणिक विज्ञानवादी को यह बताना आवश्यक हो जायगा कि वह बिना कारण के प्रत्यभिज्ञा का निरादर क्यों करता है? सन्देह यदि कहीं २ पाया भी जाता है तो उस की निवृत्ति भी हो जाती है और सन्देह मिट जाने के अनन्तर प्रत्यभिज्ञा द्वारा पदार्थों की स्थिरता ही सिद्ध होती है। और दूसरी बात यह है कि पदार्थों की उपस्थिति के बिना सन्देह भी नहीं हो सकता—यदि पदार्थ हो तो उस को देख कर सन्देह भी हो सकता है और पदार्थ ही न हो तो सन्देह किस के विषय में होगा और सन्देह निवृति के पश्चात् सिद्ध कौन होगा? अतः प्रत्यभिज्ञा का निरादर करके निरर्थक सन्देहवाद को महत्व देना किसी भी प्रकार से बुद्धिमत्ता नहीं कहा जा सकता। एक बात और भी है—प्रश्न यह है कि सन्देह किस बात का और किस वस्तु का तथा किस वस्तु में होता है? क्या पदार्थों की स्थिरता के विषय में सन्देह होता है अथवा पदार्थों के दर्शन में सन्देह होता है? स्थिरता और दर्शन दोनों में सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि स्थिरता को स्वीकार कर चुकने पर ही सन्देह किया जा सकता है क्षणिकता से नहीं। देखिये—पहिले हमने मकान को देखा फिर हमने अनेक काम किये, उसके पश्चात् कालान्तर में हम उस मकान के सामने आये, वहां आते ही हम को सन्देह हुआ कि यह वही मकान है जिस को हमने दो वर्ष

या दो घण्टा हुए पहिले देखा था या यह कोई दूसरा मकान है। यहां सन्देह, मकान के विषय में है— परन्तु मकान आज से दो वर्ष या दो घण्टा पहिले से हमारा देखा हुआ है तब से लेकर अभी तक यह मकान बराबर विद्यमान है। अतः इतनी लम्बी अवधि अर्थात् दो वर्ष या दो घण्टा के अरबों खरबों क्षणों तक स्थिर रहने वाले पदार्थ को एक क्षण मात्र स्थायी किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता इसलिये पदार्थों की स्थिरता तो निर्विवाद है और उसके आधार पर सन्देह वादी पदार्थों को क्षणिक सिद्ध नहीं कर सकता।

इसी प्रकार मकान के दर्शन में भी सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि दर्शन एक क्षण का कार्य नहीं है। मकान को देखने का कार्य कई क्षणों में सम्पन्न होता है। देखने से पहिले भी मकान की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। देख चुकने के पश्चात् भी सन्देह करते समय मकान को विद्यमान मानना आवश्यक होगा। सन्देह निवृत्ति के पश्चात् प्रत्यभिज्ञा होने पर कि—'निस्सन्देह यह वही मकान है'— मकान की सत्ता फिर स्वीकार करनी होगी। अतः पदार्थों के दर्शन अर्थात् स्थिरता के ज्ञान के विषय में भी सन्देह नहीं हो सकता। और सन्देह होने पर भी क्षणिक सिद्ध नहीं होता।

यदि कहा जावे कि प्रामाण्य में सन्देह है अर्थात् निर्णायक प्रमाण के होने में सन्देह है अथवा प्रमाण के निर्णायक होने में सन्देह है यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने से तो सन्देह भी नहीं हो सकता। सन्देह और सन्देह की निवृति तथा सन्देह निवृति के कारण— इन सब को प्रत्येक विचारशील स्वीकार करता है। यदि निर्णय कोटि तक पहुंचाने वाला कोई भी प्रमाण न होता तो सारा संसार सन्देह सागर में गोते खा कर नष्ट भ्रष्ट हो गया होता। अतः यह भी नहीं कह सकते कि द्विविधा को मिटा कर निश्चय कराने वाला कोई प्रमाण नहीं हैं। यह प्रत्यभिज्ञा है जिस के द्वारा संशय की निवृति होती और लौकिक व्यवहार सुचारु रूप से सिद्ध होते हैं।

यदि कहा जावे कि—प्रत्यभिज्ञा के विषय में ही संदेह है तो ऐसा मानना भी युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि प्रत्यभिज्ञा को स्वीकार करना और उस की प्रामाणिकता में सन्देह करना परस्पर विरोधी बातें हैं। अग्नि की सत्ता स्वीकार करना और यह कहना कि अग्नि प्रकाश नहीं

करता और शीतल है— यह विचार विचारवान् व्यक्ति को शोभा नहीं देता।

यदि यह कहा जावे कि-पदार्थों को क्षणिक मान कर भी प्रत्यभिज्ञा अर्थात् 'यह वस्तु वही है—यह ज्ञान हो सकता है, तो यह हठधर्मी ही कही जावेगी। भला एक क्षण में स्थित रह कर दूसरे क्षण में नष्ट हो जाने वाले पदार्थ में प्रत्यभिज्ञा हो कैसे सकती है? क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के लिये न्यून से न्यून तीन २ क्षण अवश्य लगेंगे, प्रथम क्षण में वस्तु का दर्शन, दूसरे क्षण में संदेह, तीसरे क्षण में संदेह निवृत्ति अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। इस क्रम को स्वीकार किये बिना क्षणिक पदार्थों में भी सन्देह अथवा प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि हो भी तो संदेह तथा प्रत्यभिज्ञा से पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध न हो कर स्थिरता ही सिद्ध होती है। अतः पदार्थों की स्थिरता स्वीकार करने से ही प्रत्येक पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। क्षणिक मानने से तो संदेह भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

उपरोक्त क्षणिक विज्ञानवाद पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि जो लोग चैतन्य को भूतों का विकार मानते हैं या क्षण २ में परिणाम स्वभाव वाला मानते हैं उनकी युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि वासना का संक्रमण नहीं होता किन्तु शुभाशुभ कर्म वासनाओं का आधार कोई चेतन आत्मा है जो शरीर से सर्वथा भिन्न कोई तत्व विशेष है। वह कोई क्षणिक भौतिक पदार्थ नहीं अपितु अभौतिक नित्य एक रस अविनाशी तत्व है। वही कर्म करता तथा अनेक प्रकार के शरीरों को धारण करके सुख दुःख को भोगता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जीवों के सुखदुःख भोगने का कारण जीवों के अपने २ कर्म संस्कार और भोग संस्कार हैं-यही परलोक के मुख्य कारण हैं क्योंकि इन के होने से ही जन्म जन्मान्तर की प्राप्ति तथा मोक्ष की सिद्धि होती है।

शंका—परलोक के हेतु 'अदृष्ट' के सिद्ध होने पर यह सन्देह होता है कि-हेतु स्वभाविक है अथवा नैमित्तिक है। यदि स्वाभाविक है तो जैसे नील वस्तु सभी प्राणियों को नील ही प्रतीत होती है वैसे ही अदृष्ट संस्कार भी सभी जीवों के समान रूप से भोग कारण होंगे। यदि नैमित्तिक है तो वह निमित भी स्वभाव से है अथवा अन्य

निमित्त से ? दोनों प्रकार से अनवस्था दोष आता है और यह मानना पड़ता है कि कारणत्व स्वाभाविक है।

उत्तर—हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तुसत्
तद्युक्तं तत्र तच्छुक्तमिति साधारणं न किम् ॥१८॥

शब्दार्थ—हेतुशक्तिम्—कारण की शक्ति अर्थात् कारणत्व को अनादृत्य–स्वीकार न करके, नीलादि अपि–नीलादि पदार्थ भी, सत् वस्तु न–वास्तविक सत्ता वाले नहीं हो सकेंगे। क्योंकि, तद्युक्तम्–सहकारी कारण से युक्त, तत्–मुख्य कारण ही, तत्र–कार्य, की उत्पत्ति में, शक्तम्–समर्थ होता है। इति–इस प्रकार कारणत्व शक्ति पर विचार करने से, किम् साधारणम् न—कारणत्व सामान्य की सिद्धि नहीं होती है क्या ? अर्थात् कार्य मात्र के प्रति कारण मात्र की आवश्यकता हुआ करती है-कार्य में कार्यत्व है तो कारणत्व भी होना ही चाहिये।

व्याख्या—जिस प्रकार नीली वस्तु सब को नीली ही प्रतीत होती है और उस में नीलिमा का गुण है इसी प्रकार कारण में भी उसकी अपनी शक्ति कारणत्व विद्यमान रहती है। यदि नील वस्तु को नीलिमा से युक्त मान कर वास्तविक पदार्थ माना जा सकता है तो कारणत्व से युक्त कारण को भी मानना चाहिये क्योंकि ऐसा न मानने पर नीलादि पदार्थ भी वास्तविक सत् वस्तु न रह कर काल्पनिक वस्तु ही सिद्ध होंगे। यदि पदार्थ में नीलत्व गुण स्वीकार न किया जावे तो नीली वस्तु के होने या वस्तु के नीला होने में कोई प्रमाण नहीं मिल सकेगा। इस प्रकार नीली आदि कहलाने वाली वस्तुओं की वास्तविक सत्ता न रह कर काल्पनिक सत्ता रह जायगी।

कारण का कार्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने से कारण कार्यभाव समझा जा सकता है। कारण कहलाने वाले पदार्थ में यह एक स्वाभाविक शक्ति है कि वह अपने निमित्त अर्थात् सहकारी सहायकों को साथ लेकर किसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है जैसा कि बीज अपने सहायक अनुकूलभूमि, अनुकूल ऋतु तथा अनुकूल जल सिञ्चन

आदि आवश्यक सहायकों की सहायता पा कर अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। इस शक्ति का अनादर करना न केवल कार्य कारण-भाव को अस्वीकार करना है किन्तु नील पीत आदि वस्तु मात्र की सत्ता को अस्वीकार करना है क्योंकि जिस प्रकार संसार के नीलपीत आदि पदार्थ अपने २ नीलत्व पीतत्व आदि गुणधर्मों से युक्त हैं उसी प्रकार वह कार्य कारण भाव से भी युक्त हैं। भाव यह है कि संसार के पदार्थों में केवल रंग रूप ही नहीं हैं अपितु वह किसी के कारण और किसी के कार्य भी हैं अतः यदि नीली वस्तु नील रंगवाली होने से नीली है तो कारण भी कारण शक्ति वाला होने से कारण है ही। भेद केवल इतना है कि नीली वस्तु साधारणतया सबके लिये नीली है परन्तु कारण तभी कार्य को उत्पन्न करता है जब सहकारी सहायकों की सहायता प्राप्त करलेता है—उनके बिना कारण की कारणत्व शक्ति का प्रकाश नहीं होता।

जैसे घटादि का कारण मृत्तिका, कुरसी आदि का कारण काष्ठ और अन्न के कारण बीज होते हैं और वे निमित्त अर्थात् सहकारी सहायकों की सहायता पा कर कार्य को उत्पन्न करते हैं वैसे ही प्रत्येक जीव के कर्मों के अदृष्ट संस्कार पृथक २ सुख दुःख उत्पन्न करते हैं। यह कारणत्व अर्थात् अपने २ कार्य को उत्पन्न करना नीलादि पदार्थों और अदृष्ट संस्कारों में समान रूप से पाया जाता है। अतः स्वभाववाद की दृष्टि से भी कार्यों की वासनायें सूक्ष्म अदृष्ट संस्कारों के रूप में परलोक के कारण हैं।

शंका—अदृष्ट संस्कारों का अधिष्ठान आत्मा को ही क्यों माना जावे वह कारण कैसे हो सकता है ?

उत्तर— पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केन चित्
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ— येनकेनचित—जिस किसी भी प्रकार से, व्यापकस्य नित्यस्य अपि— व्यापक और नित्य आत्मा का भी, पूर्वभावः—आवश्यक तथा नियत पूर्ववर्ती होना, मीयते —अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार से किसी भी कारण को; हेतुत्वम् हि—कार्य का कारण कहा जाता है,

अन्यथा—यदि ऐसा स्वीकार न करें तो, धामधीः—धर्मी ग्राहक प्रमाण न—नहीं मिल सकेगा।

व्याख्या—प्रत्येक कार्य के लिये तीन कारणों की आवश्यकता होती है, इनके विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण। समवायी कारण ही कार्यरूप हो जाता है और जब कार्य नष्ट होता है तो इसी कारण में लीन होता है-जैसे घड़ेका कारण मृत्तिका। यह कारण सदा द्रव्य ही हुआ करता है। दूसरा असमवायी कारण। यह वह कारण है जिसके नाश से कार्य का अवश्य नाश होता है-जैसे तन्तु सूत्रों के क्रम विनाश से वस्त्र का विनाश हो जाता है यह सदा गुण ही हुआ करता है। तीसरा निमित्त कारण है इस कारण के अन्तर्गत वहुत से द्रव्य आ जाते हैं-जैसे चेतन कर्ता और दण्ड चक्र आदि साधन। इन तीनों कारणों में एक बात समान रूप से विद्यमान होती है-वह है कार्य की उत्पत्ति होने से पूर्व निश्चित रूप में उपस्थित रहना। क्योंकि कारण का सामान्य लक्षण ही यह है कि वह अन्यथा सिद्ध न हो और कार्य की उत्पत्ति से पहिले विद्यमान हो, जिसकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक हो और कार्य की उत्पत्ति से सदा पहिले वर्तमान रहे वह पदार्थ उस कार्य का कारण होता है। इस नियम के अनुसार अदृष्टों का कारण चेतन आत्मा सिद्ध होता है क्योंकि सुख दुःख के भोगों से पहिले भोक्ता आत्मा विद्यमान होता है और भोगों के कारण कर्मों से पहिले भी आत्मा रहता है। यदि आत्मा की सत्ता न मानी जावे अथवा चेतन आत्मा को कर्मों का कर्ता और कर्म फलों का भोक्ता न माना जावे तो कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मीमांसा नहीं हो सकेगी। इसी से आत्मा को नित्य भी मानना पड़ेगा। आत्मा को नित्य मानने के विना कर्म फल भोग व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती, और यदि आत्मा को कोई व्यापक भी माने तो आत्मा को कर्म संस्कारों का निमित्त कारण अथवा अधिष्ठान मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। संसार में जितने तत्व हैं सबके अपने अपने विशेष गुण हैं जैसे पृथ्वी का गंध, जल का रस, अग्नि का तेज़, वायुका स्पर्श तथा आकाश का शब्द। आत्माका भी विशेष गुण है ज्ञान इच्छा और प्रयत्न, यदि आत्मा को अदृष्ट संस्कारों का अधिष्ठान तथा कारण न माना जावे तो नैरात्म्यवादी को बतलाना होगा कि अदृष्टों का

कारण कौन है ? पृथ्वी आदि भूत तो हो नहीं सकते क्योंकि उन में योग्यता नहीं है। परिशेष से यही सिद्ध होता है कि कर्म करने वाला और फल भोगने वाला कोई नित्य चेतन है जो पृथ्वी आदि पंचभूतों से सर्वथा अतिरिक्त है। इस प्रकार धर्मिग्राहक प्रमाण भी सार्थक सिद्ध होता है और कर्मफल की व्यवस्था भी सिद्ध होती है।

अतः इस विचारधारा से यह मानना पड़ता है कि संसार में आत्मा है जो शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है और कर्मों का फल भोगने के लिये परलोक अर्थात् जन्मजन्मान्तर में भ्रमण करता है। यह कर्म-फल की व्यवस्था जीव की इच्छा तथा कर्ममात्र से सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोगने के लिये जन्मजन्मान्तर में भ्रमण करना नहीं चाहता और कर्म जड़ होने के कारण फल को भुगताने की योग्यता नहीं रखते-परन्तु जीवों को सुख दुःख प्राप्त होता है इसलिये कोई चेतन सत्ता है जो प्रत्येक आत्मा को कर्मफल प्रदान करती है और वह व्यापक तथा नित्य है। उसी का नाम परमात्मा है।

इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरत प्रपंचरचना कल्लोलकोलाहलः
साक्षात् साक्षितया मनस्यभिरतिं बध्नातु शान्तोमम ॥२०॥

शब्दार्थ--यस्य--जिस परमात्मा की, सहकारि शक्तिः– आवश्यक तथा साथ रहने वाली शक्ति, दुरुन्नीतितः–अत्यन्त कठोर तथा परमाव-श्यक सृष्टि-नियमों में सहायिका होने के कारण, माया इति–'माया' इस नाम से प्रसिद्ध है। तथा, मूलत्वात्--सम्पूर्ण जगत् का मूल अर्थात् उपादान कारण होने से, प्रकृतिः–प्रकृति कहलाती है और प्रबोधभ-यतः–ज्ञान और चैतन्य के अभाव के कारण, अविद्या इति– अविद्या अर्थात् 'जड़' कहलाती है। वही अदृष्ट अव्यक्त शक्ति, यस्य—जिस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अलौकिक सामर्थ्य से, उदिता— व्यक्तभाव

को प्राप्त हुई है। असौ—वह परमेश्वर, विरत प्रपंचरचनाकल्लोल कोलाहलः—संसार के रचना दोषों से सर्वथा शून्य, शान्तः—निर्लेप और निर्विकार, देवः—दिव्य शक्तियों से सम्पन्न है। वह परमेश्वर, साक्षितया—अपनी साक्षी के कारण, मम मनसि—मेरे मन में, साक्षात् अभिरतिम्—निश्चयात्मक तत्वज्ञान को, बध्नातु—स्थापित करके सुदृढ़ करे।

व्याख्या—जैसे बीज अकेला अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता और कार्योत्पत्ति के लिये सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है वैसे ही प्रकृति भी सृष्टि की सहकारी कारण है। परमेश्वर इसी प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचनादि करता है। जीवों के अदृष्ट संस्कार भी ईश्वर की अध्यक्षता में ही सुख दुःख उत्पन्न करते हैं। जब ईश्वर कृपा होती है तो यथार्थ तत्वज्ञान हो कर परमेश्वर से अनुराग होता और जीवों का कल्याण होता है। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के क्लिष्ट तथा विषम व्यापार में परमेश्वर को कुछ भी क्लेश, आयास और दोष का स्पर्श नहीं होता वह केवल साक्षी हो कर अपने संकल्प मात्र से सृष्टि के समस्त कार्यों का संचालन कर रहा है।

अदृष्ट संस्कार सब जीवों के समान न होने के कारण तथा विचित्र योनियों के विचित्र भोगों के कारण 'माया' कहे जाते हैं और जन्मजन्मान्तर का आदि मूल होने से 'प्रकृति' भी कहलाते हैं तथा तत्वज्ञान द्वारा नष्ट होने के कारण 'अविद्या' भी कहे जाते हैं। यही अदृष्ट सृष्टि की रचना के सहकारी कारण हैं। इन के द्वारा विविध भोगों की प्राप्ति होती है। ये ही परलोक के वास्तविक कारण हैं। परमेश्वर की अध्यक्षता में जीवों को कर्मों का फल प्राप्त होता है अतः परमेश्वर की अटल सत्ता में विश्वास करते हुए अशुभ कर्मों को त्याग कर शुभ कर्मों में मन को लगाना चाहिये। इसी से कालान्तर में तत्वज्ञान होकर परमेश्वर का साक्षात्कार होता है।

परमात्मा इस जगत् का कर्ता है और जीवों के कर्मों का साक्षी होकर कर्मफल प्रदाता है। आचार्य ने बताया कि जगत् की रचना में ईश्वर के दो सहयोगी हैं-एक प्रकृति और दूसरे जीवात्मा। ये दोनों

तत्त्व नित्य और अविनाशी हैं यजुर्वेद ४० अध्याय में स्पष्ट कहा गया है कि—ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत् अर्थात् परमेश्वर ने इस सम्पूर्ण जगत् के प्रत्येक परमाणु पर अपने नियम स्थापित कर रखे हैं। तथा—तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति अर्थात् उस परमेश्वर में ही जीवात्मा के कर्म सुरक्षित रहते हैं और कालान्तर में फल को प्राप्त होते हैं। जीवों का मोक्ष भी ईश्वर के ही आधीन है यथा— न त्वदृते अमृता मादयन्ते ऋगवेद ७-११-१ अर्थात् हे परमेश्वर, आप की कृपा के विना जीवों को मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति भी नहीं होती।

प्रथम स्तवक का संक्षिप्त सार

(१) इस पुस्तक का नाम 'न्याय कुसुमाञ्जलि' है। इस में न्याय के उत्तम २ पुष्पों का संचय किया गया है।

(२) इसके द्वारा सत्य पक्ष का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और सत्पुरुषों को विशुद्ध तर्क पद्धति का ज्ञान कराकर अनेक प्रकार के संशयों से छुडाया गया है।

(३) इन न्यायपुष्पों को नास्तिकों के कुतर्कों द्वारा कुचला नहीं जा सकता है। इसीलिये इनकी अकाट्य युक्तियें किसी भी प्रकार के आक्षेपों से मुरझा नहीं सकतीं हैं।

(४) यह ग्रन्थ वास्तव में अमृत रस की खानि है जिस में स्थान २ पर संशयोच्छेदी, आनन्दमय स्त्रोतों से ईश्वर विश्वास का माधुर्य प्रवाहित हो रहा है।

(५) यह 'न्याय कुसुमाञ्जलि' ईश्वर के चरणयुगलों में श्रद्धा पूर्वक समर्पित की गई है—ईश्वर सिद्धि ही इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

(६) जन्मजन्मान्तर में भटकने वाले चञ्चल चित्त को तव तक शान्ति नहीं मिल सकती जव तक वह अनेक संशयों के भ्रम जाल से निकल कर परमेश्वर की सुखदायिनी निर्भय गोद में नहीं जा वैठता।

(७) विचारशील महानुभावों का उपदेश है कि स्वर्ग और अपवर्ग मोक्ष की प्राप्ति के लिये ईश्वर की श्रद्धापूर्वक उपासना करनी चाहिये।

(८) इस लिये स्वर्ग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये परमात्मा का वर्णन करना अत्यंत आवश्यक है।

(९) श्रवण के पश्चात् मनन करने का विधान है अतः न्यायचर्चा के द्वारा ईश्वर की साधक युक्तियों पर विचार करना भी परमेश्वर की उपासना ही कही जानी चाहिये।

(१०) कार्यकारणभावके सापेक्ष होने से प्रवाह के अनादि होने से, संसार में विचित्रता अनेकता पाये जानेसे तथा जीवों की प्रवृत्ति पाये जाने से और आत्माके कर्ता भोक्ता होने से यह सिद्ध होता है कि कोई अलौकिक कारण अवश्य है।

(११) यदि कारण मात्रका निषेध किया जावे तो यह उचित नहीं है। यदि अलीक को कारण कहा जावे अथवा कारण को शशशृंगादि के समान अलीक कहा जावे तो भी ठीक नहीं है, यदि आकस्मिक होना पदार्थों का स्वभाव माना जाये तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि कार्यों के लिये कारण की आवश्यकता होती है और कारण से ही कार्य की उत्पति होने का नियम पाया जाता है।

(१२) यह संसार का प्रवाह न तो आदि वाला है और न ही ऐसा है कि उस में उत्पत्ति का कोई नियम ही न हो।

(१३) संसार में अन्वय और व्यतिरेक का अटल नियम पाया जाता है अतः जहां संशय उत्पन्न हो वहां अन्वय व्यतिरेक के विचार द्वारा वास्तविक स्थिति को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

(१४) संसार में एक ही पदार्थ नहीं है और एक पदार्थ में कार्य कारण आदि क्रम परम्परा भी नहीं हो सकती हैं।

(१५) एक ही वस्तु विना किसी दूसरी वस्तु की सहायता से अपने आप विचित्र प्रकार की अथवा अनेक रूप वाली भी नहीं हो सकती।

(१६) यदि कहा जावे कि उस एक (जड़ या चेतन) में अनेकों ही शक्तियें है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि शक्तियों को उससे पृथक ही मानना होगा अर्थात् शक्तियें और शक्तिमान, इस प्रकार एक नहीं किन्तु अनेक कारण सिद्ध होते हैं।

(१७) यदि कहाजावे कि उस वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वभाव, यावद् द्रव्यभावी होता

हैं और इसी लिये उसका अतिक्रमण करना असम्भव है।

(१८) संसारके प्राणियों की कर्म प्रवृत्ति न तो निष्फल ही है और न ही केवल दुःख देने वाली है।

(१९) यह भी नहीं कहा जा सकता कि सब कर्मों का फल इसी शरीर में मिल जाता है।

(२०) तपश्चरणादि पवित्र आचरणों को धोखा अथवा ठगविद्या या पाखण्ड भी नहीं माना जा सकता।

(२१) चिरकालसे नष्ट हुआ कर्म, किसी अतिशय अथवा अदृष्ट संस्कारों के विना सुखदुःख रूप फल को उत्पन्न नहीं कर सकता। इस लिये कर्मफल व्यवस्था मानने वाले के लिये सूक्ष्म संस्कारों को मानना अत्यन्तावश्यक है।

(२२) यदि अदृष्ट सूक्ष्म संस्कारों को स्वीकार न किया जावे तो अदृष्टों की विशेषता से शून्य, आत्माओं को पृथक् सुखदुःख की व्यवस्था किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकती।

(२३) शरीरों में पृथक २ भोगों के योग्य साधनसामग्री अवश्य है परन्तु जब तक भोक्ताओं में पृथक २ विशेषता न मानी जावे तब तक संसार के विविध भोगों की व्यवस्था करना असम्भव है।

(२४) जैसे भाव पदार्थ कारण और कार्य हैं वैसे अभाव भी कार्य कारण दोनों हैं।

(२५) अन्वय व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि केवल प्रतिबन्ध तो कारणत्व की सामग्री से रहित होता है परन्तु प्रतिबन्धका करनेवाला प्रतिबन्धक ही कारण होता है।

(२६) चावल आदि अन्नोंके प्रोक्षण और अभ्युक्षण अर्थात् संशोधन तथा सिंचन आदि के द्वारा यज्ञकर्ता पुरुष का ही संस्कार अभीष्ट है।

(२७) परमाणुओं के अन्दर जो अग्नि के संयोग से पाकज आदि उनके अपने २ विशेष हैं।

(२८) वायु आदि में उद्भूत तथा अनुद्भूत आदि गुणों का कारण किसी विशेष निमित्त का संसर्ग ही है।

(२९) देवता का संनिधान अथवा पूजन अर्चा का कारण भी

जीवोंके अपने अदृष्ट ही हो सकते हैं।

(३०) जीत या हार का सम्बंध, परीक्षणीय व्यक्ति विशेष के अदृष्टों के साथ होता है अतः उनका फल परिणाम देखने के लिये ही अनेक प्रकार की परीक्षा विधियें प्रचलित हो गई हैं।

(३१) कर्ता के धर्म सिद्ध करते हैं कि शरीर से पृथक कोई आत्मा है और इसी लिये कर्ता को चेतन मानना पडता है।

(३२) यदि कर्तृत्वधर्म वाले व्यक्ति को चेतन स्वीकार न किया जावे तो दो दोष उपस्थित होंगे—या तो सदा का बन्धन अथवा सदा का मोक्ष।

(३३) जो देखता है वही स्मरण करता है। किसी के देखे हुए को कोई दूसरा स्मरण नहीं कर सकता। यह स्मृति के नियम ही आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं।

(३४) पूर्व का क्रम नष्ट हो जानेसे शरीर को भी पहिले वाला नहीं कहा जा सकता। इसलिये शरीर स्मरण नहीं कर सकता।

(३५) एक परमाणु से दूसरे परमाणु में वासना का संक्रमण मानने से भी स्मृति की व्याख्या नहीं हो सकती।

(३६) स्थिर तत्त्व को स्वीकार किये विना दूसरा कोई मार्ग नहीं हैं। अतः शरीर से भिन्न नित्य चेतन आत्मा है।

(३७) क्षणिक विज्ञान की सिद्धि के लिये बीज आदि में बीजत्व से भिन्न कोई और वैजात्य सिद्ध करना होगा।

(३८) वैजात्य की सिद्धि करने वाला कोई अनुमान नहीं मिल सकता। इस लिये पदार्थों का क्षणिक होना सिद्ध नहीं हो सकता।

(३९) क्षणिकत्व की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं मिल सकता क्योंकि निश्चय के विना प्रत्यक्ष कैसा? और निश्चय भी एक क्षण में नहीं हो सकता।

(४०) सन्देह से भी क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। पदार्थों की स्थिरता के विषय में सन्देह है या उनके ज्ञान के विषय में सन्देह हैं—दोनों नहीं बनते।

(४१) प्रामाण्य में भी संदेह नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मान

नेसे परस्पर विरोध होगा।

(४२) जिस के द्वारा वस्तुके एक अर्थात् 'वही' होने का निश्चय होता है उस प्रत्यभिज्ञा से ही सिद्ध होता है कि वह क्षणिक नहीं किन्तु स्थिर हैं।

(४३) यदि आत्मा के कारणत्व को स्वीकार नहीं किया जाता तो नीलादि पदार्थों की भी वास्तविक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

(४४) नीलत्वसे युक्त यदि कोई वास्तविक पदार्थ है तो आत्मा भी कारणत्व से युक्त है।

(४५) कार्यमात्र के लिये नियम है कि उस का कारण, सहकारी कारणों की सहायता पा कर ही कार्योत्पत्ति में समर्थ होता है।

(४६) इस प्रकार कार्य कारणभाव की दृष्टि से आत्मा का अदृष्टों के साथ आवश्यक सम्बन्ध सिद्ध होता है क्योंकि जैसे नीलादि पदार्थों में कारणत्व है वैसे ही आत्मामें है।

(४७) आत्मा को अदृष्टों का कारण मानने में नित्यत्व और व्यापकत्व बाधक नहीं हो सकते क्योंकि कारण होने के लिये केवल अन्वय या व्यतिरेक ही नहीं किन्तु उसका नियमपूर्वक पूर्ववर्तित्व होना भी परमावश्यक है।

(४८) यदि ऐसा न माना जावो तो धर्मी की सिद्धि करने वाले प्रमाणों की व्यवस्था नहीं हो सकेगी।

(४९) अतः परलोक के साधन अदृष्ट संस्कार हैं और आत्मा को कर्मफल देनेवाला नित्य व्यापक परमेश्वर भी है।

(५०) इस प्रकार अदृष्ट अर्थात् कर्मों के सूक्ष्म संस्कारों की सहायता से परमेश्वर इस जगत् की व्यवस्था करता है। माया, प्रकृति और अविद्या जो कि ईश्वर की सहकारी शक्ति कहलाती है वह भी वास्तव में कर्म वासना का मुख्य आश्रय है और उस की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है।

(५१) सृष्टि के अनेक विषय व्यापारों से परमेश्वर सदा निर्लेप है।

(५२) ईश्वर की कृपा होती है तो जीव की सूक्ष्म कर्म वासनाओं का क्षय होकर ईश्वर विश्वासजागृत होता है व मोक्षकी प्राप्ति होती है

इति प्रथमः स्तवकः

अथ द्वितीयः स्तवकः

ईश्वर सिद्धि में दूसरी विप्रतिपत्ति—नास्तिक कहते हैं कि परलोक के साधन यज्ञादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये विना भी काम चल सकता हैं इस लिए ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। मीमांसकों का मत है यज्ञादि के अनुष्ठानके लिये नित्य वेद पर्याप्त हैं क्योंकि वेद के द्वारा हम को ज्ञान होता है कि परलोक के कारण धर्म अधर्म हैं। धर्म के आचरण से उत्तम जन्म और स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अधर्माचरण से निकृष्ट योनियों में भ्रमण करना पडता तथा नरक की यातनायें भोगनी पडती हैं। वेद नित्य और निर्दोष है। इस लिये वेद को प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है। वेद को प्रकाशित करनेके लिये ईश्वर की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि अनादि कालसे लोग वेद को अपौरुषेय मानते चले आते हैं।

सांख्यवादियों का कथन है कि—यदि वेदका का कर्ता ही मानना चाहो तो योग द्वारा सिद्धि प्राप्त सर्वज्ञ कपिल आदि किसी महापुरुष विशेष को वेद कर्ता स्वीकार करलेने में कोई आपत्ति नहीं।

इस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानने वाले लोग कहते हैं कि-वेद के द्वारा परलोकसाधन हो सकता है अतः परलोक साधन के लिये ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस आपत्तिका परिहार इस प्रकार है—

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलय सम्भवात् ।
तदन्यस्मिन्ननाश्वासात् न विधान्तर सम्भवः ॥१॥

शब्दार्थ—प्रमायाः—शाब्दी प्रमा अर्थात् शब्द द्वारा होने वाले ज्ञान के,परतन्त्रत्वात्—परतन्त्र होने के कारण,और, सर्गप्रलयसम्भवात्-शब्दमय वेद और सृष्टिके उत्पत्ति विनाश पाये जाने के कारण, वेद कर्ता परमेश्वर की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना पडेगा। तदन्यस्मिन्—ईश्वर से भिन्न कपिल आदि किसी पुरुष विशेष में, अनाश्वासात्—विश्वास नहीं किया जासकता। इस लिये, विधान्तरसम्भवः—

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये विना कोई दूसरा मार्ग न—नहीं है।

व्याख्या—शाविदकज्ञान के लिये कुछ एक नियम हैं जिन के आधीन शब्द की शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे-शब्द किसी वक्ता के द्वारा प्रयुक्त किया जावे और शब्द को सुनकर वोध प्राप्त करने वाला कोई हो। ये दोनों नियम इतने आवश्यक हैं कि इनका निरादर नहीं किया जा सकता। जो भी शब्द प्रमाण होता है उसका कोई न कोई प्रवक्ता तथा प्रयोक्ता अवश्य होता है। क्योंकि वक्ताके विना शब्द का प्रयोग सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार शब्दके प्रयोग से ज्ञान प्राप्त करनेवाला भी अवश्य होना चाहिये क्योंकि कोई भी शब्द, वक्ता के अपने लिये नहीं होता किन्तु वक्ता से भिन्न किसी दूसरे के लिये होता है। वेद भी शब्दरूप हैं अतः वह भी किसी वक्ता द्वारा प्रयोग किया गया है इसीलिये वह स्वतन्त्र नहीं किन्तु वक्ता और श्रोता के आधीन होने से परतन्त्र है।

जो लोग वेद को शब्द प्रमाण मान कर अपौरुषेय और नित्य कहते हैं उनका कथन युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि क, ख, ग, घ, आदि शब्द उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते जाते हैं एक शब्द की उत्पत्ति के समय पिछला शब्द नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक वाक्य के पश्चात् दूसरा वाक्य उत्पन्न और विनष्ट होता है। शब्दरूप वेद में भी शब्द के सामान्य नियम—सर्ग प्रलय अर्थात् उत्पत्ति विनाश बराबर पाये जाते हैं। इस लिये वेद को नित्य अर्थात् उत्पत्ति विनाश रहित नहीं माना जा सकता और नित्य न होने के कारण वेद अर्थात् शाब्दी प्रमा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती किन्तु वक्ता और श्रोता के आधीन परतन्त्रता सिद्ध होती है। वेद को अपौरुषेय मानना भी एक हास्यजनक बात है क्योंकि परतन्त्र होने और उत्पत्ति विनाश धर्मवाला होने से शब्दरूप वेद को अपौरुषेय नहीं माना जा सकता। अतः वेद का प्रकाश करनेवाला कोई कर्ता अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

यदि कोई कहे कि हम कपिल आदि किसी सर्वज्ञ सिद्ध पुरुषको वेद का कर्ता मान कर परलोक साधन की व्यवस्था कर सकते हैं तो उनका कथन भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि कपिल आदि सिद्ध पुरुष भी शरीरधारी होनेके कारण जन्ममरण वाले थे। उनको सिद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व, मातापिता से जन्म लेना पडा होगा

जन्मलेने के पश्चात् किसी विद्वान् गुरुके द्वारा ज्ञान लाभ लेना पडा होगा क्योंकि मातापिता के बिना जन्म और गुरु बिना ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि कपिल आदि को सिद्धत्व प्राप्त करने से पहिले अपनी निर्बलता और अविद्या को दूर करने के लिये परिश्रम भी करना पडा होगा। इसी प्रकार उन के मातापिता तथा गुरुजनों को भी और उनके पूर्वजों को भी जन्म लेना और गुरु की शरण लेना आवश्यक मानना पडेगा। ऐसी परिस्थितिमें जन्ममरण वाले व्यक्ति से नित्य वेद का प्रकाशित होना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी सिद्ध पुरुषने जगत् को उत्पन्न किया हैं। जगत् का निर्माण और वेद की रचना-ये दोनों किसी एक ही कर्ता की कृतियें हो सकती हैं क्योंकि इन कार्यों के लिए ऐसे कर्ता की आवश्यकता हैं जो जन्म मरण से रहित नित्य अविनाशी और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हो। यह गुण ईश्वर में ही हो सकते हैं किसी मनुष्य में नहीं अतः इस से भी यही सिद्ध होता है कि वेद का कर्ता कोई सिद्ध पुरुष नहीं किन्तु ईश्वर है।

जो लोग वेद को प्रमाण मान कर ईश्वर की सत्ता से विमुख हैं। उन के मत में न केवल उपरोक्त दोष ही आते हैं अपितु वेद का विरोध भी प्राप्त है क्योंकि वेद में अनेकों स्थानों पर ईश्वर को जगत् का उत्पादक तथा वेदका प्रकाशक कहा गया है। ऐसी दशा में वेद वचनों का निरादर करके मीमांसकों अथवा अन्य सांख्य आदिकों की भ्रांत कल्पना का सन्मान कैसे किया जा सकता है ?

शब्दरूप वेद को नित्य और अपौरुषेय इस लिये भी नहीं माना जा सकता कि सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् वेद की उत्पत्ति और सृष्टि के प्रलय के समय वेदका लय भी होता है। ईश्वरी सत्ता को स्वीकार करने से सृष्टिकी तथा वेद द्वारा परलोक साधन आदि की सुन्दर व्यवस्था हो जाती है और किसी प्रकार की भ्रांत धारणा अथवा क्लिष्ट कल्पना भी नहीं करनी पडती।

शंका—सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई है और प्रलय भी कभी नहीं होगी। यह संसार अनादि कालसे चला आ रहा है और अन्तकाल तक ऐसे ही चला जायेगा-इसका कोई कर्ता नहीं है। इसीप्रकार वेद भी अनादि काल से चला जाता है और अनन्त काल तक बना

रहेगा-इस का कोई कर्ता नहीं है। यदि सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय माना जावे तो बहुतसे दोष उपस्थित होते हैं जिन का समधान मिलना कठिन है। यथा-अहोरात्र, बीजवृक्ष और कर्मफल के क्रम का सादि होना। सृष्टि की उत्पत्ति मानने पर यह बताना होगा कि दिन से पूर्व रात्रि थी या रात्रि से पहिले दिन था। बीजसे पहिले वृक्ष था या वृक्ष से पहिले बीज था। कर्मसे पहिले शरीर था। अथवा शरीरसे पहिले कर्म था।

उत्तर-वर्षादिवद्भवोपाधिः वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णाः मायावत् समयादयः॥२॥

शब्दार्थ—वर्षादिवत्-वर्षादिके दिनों के समान, भवोपाधिः—संसारकी स्थिति ही नियम है। सुषुप्तिवत्—सुषुप्ति के समान, वृत्तिरोधः-कर्मों की फल प्रदायिनी शक्तिका निरोध हो जाता है। उद्भित्-वृश्चिकवत्—वृक्ष वनस्पति तथा बिच्छू आदि के समान, वर्णाः—मनुष्य पशु पक्षी आदि की व्यवस्था हो सकती है। मायावत्-मायावी पुरुष के समान,समयादयः—शिक्षा और कलादि का प्रवाह भी चल सकता है।

व्याख्या—सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय मानने में जो दोष दिये जाते हैं वे ठीक नहीं हैं क्योंकि सृष्टि जिन नियमोंमें जकडी हुई है उन के समझने में भूल की जाती है। यदि यह कहा जावे कि आदिका दिन विनारात के या रात्रि विना दिन के नहीं हो सकती अतः अहोरात्र का नियम संसार की उत्पत्ति में बाधक है-तो ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि वर्षा आदि ऋतु के समान अहोरात्र नियम की व्याख्या हो सकती है। वर्षा के दिनों के विषय में ज्योतिष शास्त्र यह बतलाता है कि जब सूर्य किसी विशेष राशि या लग्न में आता है तो पृथ्वी पर वर्षा होती है। यदि उस राशि में नहीं आता तो वर्षा नहीं होती। अमुक राशि में जब सूर्य जाता है तो वसन्त ऋतु आति है इत्यादि। जैसे वर्षाके लिये सूर्य का अमुक राशिमें जाना आवश्यक है वैसे ही अहोरात्र के नियम के लिये सृष्टिका स्थिति की अवस्थामें पहुंच जाना आवश्यक है अर्थात् संसारके स्थिति कालमें ही दिन से पूर्व रात और रात से पूर्व दिन के होने का नियम है। संसार के सर्ग प्रलय काल में

स्थिति काल के नियमों का वन्धन लगाना ठीक नहीं हैं। क्योंकि सर्ग, काल के नियम कुछ और हैं और स्थिति काल के नियम कुछ और हैं, दो भिन्न कालों के नियमों का एक दूसरे में सांकर्य करना तत्वज्ञान की दृष्टि से भयानक भूल कही जा सकती है। वीज और वृक्ष का दोष भी ठीक नहीं क्योंकि यह भी सृष्टि के स्थिति काल का ही नियम है सर्ग कालका नियम नहीं।

कर्मफल प्रवाह भी सर्गप्रलय के मार्ग में वाधक नहीं हो सकता है। कर्म से पहिले शरीर और शरीर से पहिले कर्म का नियम भी स्थिति काल से ही सम्बंध रखता है। पूर्व काल की सृष्टि के प्रलय के समय जीवों के कर्म निरुद्धावस्था में होते हैं और जव सृष्टि उत्पन्न होती है तो सुखदुःख के भोगार्थ शरीर उत्पन्न करते हैं, सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा की अवस्था में किसी प्रकार का सुखदुःख रूप भोग प्राप्त नहीं होता परन्तु सुषुप्ति काल के पश्चात् स्वप्न और जागृत् अवस्था में प्राप्त होने लगता है, जैसे जीवों के कर्म फलों का प्रवाह सुषुप्ति काल में रुक जाता है वैसे ही प्रलय काल में भी रुक जाते हैं जव उत्पत्ति काल आता है तो फिर चल पडता है और जीवों को शरीर मिल जाते हैं। अतः कर्मफल व्यवस्था भी संसार के सर्ग प्रलय मार्ग में वाधक नहीं है।

यदि कहा जावे कि मनुष्य पशुपक्षी और प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व उन के मातापिता का होना आवश्यक है परंतु सृष्टिका सर्गप्रलय मानने से यह नियम भी भंग होता है। तो उसका उत्तर यह है कि सृष्टि के आरंभ में कोई मातापिता नहीं होते हैं उस काल में सृष्टि के सूक्ष्म परमाणु पुञ्ज के मिलनेसे मनुष्यों और पशुपक्षियों के शरीर की रचना होती है उसके पश्चात् मातापिता से सन्तति का नियम प्रचलित हो जाता है। जैसा कि गोवर के सूक्ष्म परमाणु पुञ्ज से बिच्छू आदि प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं तथा वर्षा के होने पर अनेक प्रकार की वनस्पति और वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं। आदि की रचना हो चुकने पर फिर माता पिता से सन्तति उत्पत्ति तथा बीज से वृक्ष की उत्पत्ति का नियम चालू हो जाता है। इस लिये माता पितासे सन्तानोत्पत्ति का नियम भी सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय में रुकावट नहीं है।

कला कौशल और शिक्षा आदि के नियम भी सृष्टि के सर्ग प्रलय के वाधक नहीं हैं, क्योंकि भाषाविज्ञान और घटपट आदिक कला विज्ञान

के लिये मायावियों की कृतियों रेडियो, फिल्म आदि से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही व्यक्ति संसारभर के लोगों को अपना अभिप्राय व्यक्त कर सकता है और शिक्षा देकर व्यवहार चला सकता है, इसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर अपनी शक्ति से जीवों को भाषाविज्ञान और कला विज्ञान की शिक्षा दे सकता है। अतः यह दोष भी सर्ग प्रलय का बाधक नहीं है। जब सृष्टि का सर्गप्रलय है तो वेदों का भी सर्ग प्रलय अवश्य मानना चाहिये और वेद की उत्पत्ति के लिये ईश्वर का अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना चाहिये क्योंकि सर्व विज्ञानमयविद्या-भंडार वेद की उत्पत्ति साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति से नहीं हो सकती, ऐसे अलौकिक ज्ञान के सागर की उत्पत्ति सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् व्यापक परमेश्वर से ही हो सकती है।

शंका—वैदिक सर्गप्रलय का यदि कोई बाधक नहीं तो साधक भी कोई नहीं है। अतः वेद के सर्ग प्रलय में यदि कोई साधक प्रमाण हो तो बतलाइये।

उत्तर — जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः—
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ —जन्मसंस्कार विद्यादेः—जन्म, संस्कार और विद्या आदि तथा, स्वाध्याय कर्मणोः-स्वाध्याय और कर्म की, शक्तेः—शक्तिका ह्रास दर्शनतः —दिनप्रतिदिन ह्रास देखे जानेसे, सम्प्रदायस्य—वेदादि सम्प्रदाय का: ह्रासः—ह्रास, मीयताम्—अनुमान करना चाहिये।

व्याख्या—सृष्टि के इतिहास को मनन करने से प्रतीत होता है कि संसार की शक्तियों में क्रमशः ह्रास होता जा रहा है। ज्योतिष विद्या के जानने वाले कहते हैं कि-आकाश में टूटने वाले तारों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। सूर्य की गरमी और गति में भी भारी अन्तर आ रहा है। जितनी गरमी और गति पूर्व काल में थी उतनी आजकल नहीं है। और जितनी शीघ्रता से वनस्पति में फल पहिले पकते थे उतनी शीघ्रता से आजकल नहीं पकते। रामेश्वरम् के सेतु बन्ध, चीन की दीवार, मिश्र के पैरामीड तथा अशोक के स्तम्भों को देखने से सिद्ध होता है कि चूना मिट्टी ईट आदि में जो शक्ति पहिले

थी वह आज कल के सीमेण्टों में नहीं है। वर्षा के पुष्कल होने से अनाज की अधिकता जितनी पहिले थी उतनी आजकल नहीं होती। अन्न के दाने जितने सुन्दर ठोस तथा परिमाण में भारी और स्वादिष्ठ पहिले होते थे आजकल वैसे नहीं होते। गौ, बैल, घोड़े आदि पशुओं का रूप बल और शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही हैं।

मनुष्यों की ओर दृष्टि डाली जावे तो ऐसा प्रतीत होगा कि-घोर अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। कोई विभाग ऐसा नहीं जिस में मनुष्य जाति का ह्रास न पाया जावे। शरीर को ही ले लीजिये-सत् युग में मनुष्यों की साधारण आयु ४०० वर्ष की थी। शरीर का परिमाण अच्छा लम्बा चौडा था। चार पांच मन का बोझ उठा कर पचास-साठ मील प्रति दिन पैदल चलना साधारण बात थी। चार पांच मील दूर बैठे परस्पर बात चीत करना आश्चर्य जनक बात न थी। वृक्षों को उखाड़ फेंकना और हाथियों को धकेल कर भगा देना तथा उद्धत सांडों को मल्लयुद्ध में परास्त करना विशेष महत्व की बातें न थीं। स्त्री पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त पवित्र था। दुराचार और व्यभिचार का नाम तक किसी को पता न था। पराई स्त्री को माता बहिन बेटी के समान देखा जाता था। अपनी स्त्री के पास भी पुत्र कामना के उद्देश्य से ही जाने का नियम था। विषय भोग के सुख के लिये स्त्री पुरुषों का समागम नहीं होता था। कोई पुरुष यह नहीं जानता था कि स्त्री से प्रेम करने से विशेष सुख होता है और न ही कोई स्त्री किसी विशेष सुख की प्राप्ति के लिये पुरुष का संग करना चाहती थी। सन्तोष के कारण चोरी नहीं होती थी। दयार्द्र-चित्त होने से मांसाहार की कल्पना तक न थी। अपने २ प्रबन्ध में लगे रहने से किसी अन्य व्यक्ति पर अत्याचार नहीं होता था। एक बार सुन लेने पर वेद तथा स्वाध्याय की पाठ्य पुस्तकें सदा के लिये कण्ठस्थ हो जाती थीं। इस प्रकार जन्म, संस्कार, सदाचार, विद्या, स्मृति, शक्ति, पठन पाठन और पुरुषार्थ आदि आवश्यक अंगों से मनुष्य जाति सर्वथा परिपुष्ट और सर्वतः सन्तुष्ट थी।

त्रेता युग के आने पर इन गुणों में ह्रास आना आरम्भ हुआ। द्वापर युग में तो स्पष्ट अन्तर आ गया। द्वापर के अन्तिम भाग की कथायें पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि-व्यास जी ने १२० वर्ष की

अवस्था में महाभारत लिखा। ९० वर्ष की अवस्था में श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश दिया। ८० वर्ष की अवस्था में अर्जुन ने धनुर्विद्या के पराक्रम दिखाये। राजा और ऋषि कहलाने वालों के मन में भी विकारांकुर उत्पन्न होने लगे, बहु विवाह, व्यभिचार, चोरी, मांसाहार, मद्यपान, द्यूतक्रीडा, गृहकलह, जातियुद्ध और स्पृश्यास्पृश्यभेद तथा वेद विद्या में श्रद्धा का लोप आदि शारीरिक और मानसिक ह्रास पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था।

कलियुग में प्रवेश करने से अधोगति का स्पष्ट चित्र सामने आ गया है। स्त्री पुरुषों का समागम केवल समागम सुख के लिये माना और प्रचारित किया जा रहा है। सन्तान निग्रह की घर २ में चर्चा है। स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव होकर कृत्रिम सौन्दर्य सम्वर्धन के साधनों का आविष्कार हो रहा है। स्मृति शक्ति के विलोप से परीक्षा में अनुतीर्ण होने पर विद्यार्थीवृन्द आत्महत्या को गले लगाने लगे हैं। ब्रह्मचर्य के अभाव से मुखारविन्द मुरझा कर निस्तेज होते जा रहे हैं। गौ, महिष और बकरी आदि उपयोगी उपकारी जीवों से दूध घी न लेकर उनका मांस तथा चर्म लिया जा रहा है। स्थान २ पर गौ शाला या पशुशाला न बनाकर वधशाला बनाई गई हैं। ओषधियों के बल कारक गुणों का परित्याग करके मद्यपान का अनुपान किया जाने लगा है। सिग्रेट, बीडी, भांग, चरस, अफीम और कोकीन आदि विषैली वस्तुओं के व्यवहार से शक्ति का ह्रास तो क्या सत्यानाश होता जा रहा है। मनुष्य की साधारण आयुः ५० वर्ष की भी नहीं रह गई है।

उन्नति की दुहाई मचाने वाले मानवता के प्रसारक-प्रचारक आंखें खोल देखें कि संसार कितनी अवन्नति की ओर दौड़े जा रहा है। पत्थर के कोयले और मिट्टी के तेल की दुर्गन्धी ने आकाश की छाती पर चढ कर वायु की प्राणदायिनी शक्ति को कितना नीचा दिखाया है। एकदेश या जाति के मनुष्य, दूसरे देश या जाति वालों को दासता की शृंखला में बांधने और बांध कर मार डालने तथा संसार से विलुप्त कर डालने के लिये कितने उतावले हो रहे हैं। एक ही देश में एक वर्ग दूसरे वर्ग को कुचलने और विनष्ट करने पर तुला बैठा है। उन्नति और विकास के लिये नहीं किन्तु विनाश के गहरे रसातल में सदा सुला देने के लिये कितने भयंकर साधनों और शस्त्रास्त्रों का अविष्कार किया जा

चुका है। भयानक विषैली गैस उड्न बम्ब, और गत महायुद्ध का भयंकर अस्त्र परमाणु बम्ब के घृणित कृत्यों और उसके प्रयोग करने वालों की मनुष्य संहारकारिणी दुर्भावनाओं को भुलाया नहीं जा सकता है।

किमधिकम्—जितना भी विचार किया जावे यही मानना पड़ेगा कि संसार अपने विनाश की ओर तीव्रातितीव्र गति से ह्रासोन्मुख दौड़ता चला जा रहा हैं। अतः ह्रास के प्रत्यक्ष चिह्न देखने से यह अनुभव होता है कि संसार की उत्पत्ति हुई थी और प्रलय भी अवश्य होगा। सृष्टि के सर्ग प्रलय के साथ २ यह भी मानना पड़ता है कि वैदिक शाखा तथा अन्य विज्ञानों का भी सर्ग प्रलय अवश्य होता है।

अतः वेद अथवा वैदिक विज्ञान को परलोक साधन मानने से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती, शाब्दी प्रमा अर्थात् वेद द्वारा होने वाले ज्ञान के परतन्त्र होने से वेद के कर्ता परमेश्वर को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। उस परमेश्वर की अध्यक्षता में ही संसार के सर्ग तथा प्रलय का चक्र अनादि काल से चलता आ रहा हैं। उसी की सत्ता में विश्वास करना परम कल्याण का कारण है सच तो यह है कि—इतने बड़े और विचित्र संसार का उत्पन्न तथा पालनपोषण करके स्थिर रखना और क्रमशः संहार करते हुये प्रलय करना—न तो स्वयमेव अकस्मात् ही हो सकता है और नहीं किसी जन्ममरणधर्मा व्यक्ति की शक्ति द्वारा हो सकता है। इस महत्तम कर्म के महत्तम व्यापक कारण की आवश्यकता है जो सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् और नित्य अविनाशी भी हो। ऐसा एकमात्र परमेश्वर ही है।

कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभि- ध्यानानुभावं भवम्
विश्वासैकभुवं शिवं प्रतिनमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—यः—जो परमेश्वर, अलौकिकाद्भुतमयम् जगत्—अलौकिक और अद्भुत जगत् को, मायावशात्—अपनी सहकारिणी शक्ति प्रकृति से, कारम् कारम्—वारम्वार उत्पन्न करता है

और समयानुसार, संहरन्—संहार करता है। हारम् हारम्—बारम्बार संहार करता है, इन्द्रजालमिव—इन्द्रजाल के समान जगत् को कुर्वन्—उत्पत्ति तथा प्रलय करता हुआ, क्रीडति—क्रीडा कर रहा है, तम् निरवग्रह स्फुरत्—उस स्वेच्छा पूर्वक स्वतन्त्रता से कार्य करने वाले, अभिध्यानानुभावम्—अपने ध्यान में मग्न, विश्वासैक भुवम्—अत्यन्त श्रद्धा के योग्य, भवम्—संसार के कारण, देवम् शिवम्—दिव्य तथा शान्तनिर्विकार परमेश्वर को, प्रति—साक्षात् सर्वान्तर्यामी रूप से उद्देश्य रख कर, अन्तेषु अपि—प्राणान्त के विकट समय पर भी, नमन् भूयासम्—नमस्कार करता रहूं।

व्याख्या—इस अलौकिक तथा अद्भुत पदार्थों और नियमों से भरपूर ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने मदारी के खेल के समान बनाया है। बडे २ ऋषि मुनि, बुद्धिमान् और विद्वान् आज तक इस विचित्र रचना का पार नहीं पा सके और न ही कभी पा सकते हैं क्योंकि मनुष्य की तुच्छ खोपडी में महान् विस्तृत ब्रह्माण्ड का पूर्वापर पूर्णज्ञान समा सकना असम्भव है। इस अलौकिक और अद्भुत संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार करने वाला भी कोई महान् अलौकिक और अद्भुत शक्ति शाली ही हो सकता है। इसी लिये उस परमेश्वर के रचना प्रकार भी अलौकिक तथा अद्भुत हैं। मनुष्य अपने अनुभवों साधनों और कार्यों से ईश्वर के कार्यों को नापना चाहते हैं और यथार्थ तत्व को न जान कर कुछ का कुछ समझ बैठते हैं।

परमेश्वर ने इस ब्रह्माण्ड को पहिली बार ही नहीं बनाया है—उसने अनेकों बार ऐसे २ संसार बनाये और बनाकर बिगाड डाले, ईश्वर को यह खेल खेलते २ यह दिन आ गये और वह आज भी बराबर खेल रहा है और जब तक रहेगा खेलता ही रहेगा। यह उसकी आश्चर्य जनक लीला है। संसार की उत्पत्ति और प्रलय करना ईश्वर की स्वाभाविकी क्रिया है। इस क्रिया को करने में ईश्वर को किञ्चिन्मात्र भी आयास नहीं होता। निमेषोन्मेष के समान उसके कार्य अनायासतया होते रहते हैं।

हमारा कर्तव्य और हमारी भावना यह होनी चाहिये कि—हम

जिस भी परिस्थिति में हों हम यह अनुभव करें कि ईश्वर हमारा सर्वस्व है। उसके न्याययुक्त नियमों से भाग कर हम कहीं छिप नहीं सकते। मृत्युकाल आने पर भी हमें ईश्वर विश्वास बनाये रखना चाहिये। जो लोग अन्तकाल में प्राणान्त की भयानक यातनायें सहन करते हुए भी ईश्वर पर अटल श्रद्धा और अटूट विश्वास बनाये रखते हैं और इसी दशा में इस अमूल्य निधि और महान् अनर्घ्यरत्न को हृदय में छुपाये संसार से प्रस्थान करते हैं उनको मार्ग में कोई कष्ट नहीं होता। एकमात्र शिव ही शिव और कल्याण उनके आगे पीछे होता है।

द्वितीय स्तवक का संक्षिप्त सार

(१) शाब्दिक ज्ञान वक्ता के आधीन होने से परतन्त्र होता है अतः वेद का कोई वक्ता-रचयिता अवश्य मानना चाहिये।

(२) वेद और सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय मानने पड़ते हैं यही कारण है कि इनका कर्ता रचयिता भी मानना आवश्यक है।

(३) ईश्वर से अतिरिक्त किसी मनुष्य या ऋषि अथवा सिद्ध पुरुष में इतनी योग्यता कभी नहीं स्वीकार की जा सकती कि वह वेद अथवा सृष्टि को उत्पन्न कर सके।

(४) ईश्वर पर विश्वास किये विना कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

(५) वर्षा आदि ऋतुओं के नियमों के समान सृष्टि की उत्पत्ति के भी नियम हैं।

(६) कर्मों की फलप्रदात्री शक्ति प्रलयकाल में उसी प्रकार अवरुद्ध हो जाती है, जिस प्रकार सुषुप्तिकाल में ज्ञान कर्म इन्द्रियों के व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं।

(७) सृष्टि के आदि में मनुष्य आदि प्राणियों की उत्पत्ति माता-पिता के विना उसी प्रकार से होती है जिस प्रकार विना मातापिता के गोबर आदि से बिच्छू आदि की उत्पत्ति हुआ करती है।

(८) जन्म, संस्कार और विद्या आदि तथा स्वाध्याय और कर्मों की शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास पाये जाने से वैदिक सम्प्रदाय और संसार के सर्ग प्रलय का अनुमान करना चाहिये।

(९) ईश्वरने इस संसार को पहिली बार ही नहीं रचा है किन्तु इस से पूर्व अनेकों बार सृष्टि की रचना कर चुका है और अनेकों बार संसार का संहार भी कर चुका है।

(१०) सृष्टि की उत्पत्ति और संहार का चक्र चलाना ईश्वर का स्वभाव है इस कार्य को वह अनायास ही किया करता है।

(११) मनुष्य जीवन का एक ही उद्देश्य है कि उस परमात्मा को अपना परम कल्याणकारी संरक्षक जानकर उस की भक्ति में मन लगाया जावे।

(१२) ऐसा प्रबल प्रयत्न करना चाहिये कि जिस से प्राणोंके निकलने के समय परमेश्वर के चरणों में अत्यन्त श्रद्धा के साथ ध्यान लगा रहे।

इति द्वितीयः स्तवकः

अथ तृतीयः स्तवकः

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में नास्तिकों द्वारा तीसरी विप्रतिपत्ति यह उठाई जाती है कि-यदि सचमुच ईश्वर नामक कोई व्यक्ति होता तो उस की सत्ता को प्रसिद्ध करने वाले अभावावेदक प्रमाण न पाये जाते। प्रसन्नता और गर्वकी वात है कि हमारे पास ऐसे पुष्कल प्रमाण और प्रवल युक्तियें हैं जिन के द्वारा ईश्वर का असद्भाव वडी सरलता से सिद्ध किया जा सकता है-हम कह सकते हैं कि ईश्वर के होने में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। कोई हेतु युक्ति या दृष्टान्त भी नहीं है जिनसे अनुमान किया जा सके। इसके विपरीत ऐसी युक्तियें हैं जिनके वल पर ईश्वर का अभाव सिद्ध किया जा सकता है, न केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ही अपितु उपमान, शब्द अर्थापत्ति और अभाव इन प्रमाणों से भी ईश्वर का अभाव अच्छे प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है।

अथ प्रत्यक्ष बाधोद्धारः

शंका—यदि ईश्वर प्रत्यक्ष होता तो चक्षु इन्द्रिय से अवश्य ग्रहण किया जाता। परन्तु आज तक किसी व्यक्ति ने ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं किया, लोग शशशृंग अर्थात् 'शश के सींग' तो कहते हैं परन्तु शब्दमात्र से भिन्न शशशृंग का कोई अस्तित्व नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर ईश्वर तो लोग कहते है परन्तु शब्दमात्र से संसार में कहीं भी ईश्वर का अस्तित्व नहीं है—अतः ईश्वर के मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक है।

उत्तर—योग्या दृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिवन्धिः कुतस्तराम्
क्वायोग्यं बाध्यते शृंगं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥१॥

शब्दार्थ—अयोग्ये—अभाव के सर्वथा अयोग्य ईश्वर के विषय में, योग्यादृष्टिः—योग्यकी अनुपलब्धि, कुतः—किस प्रकारसे बाधिका हो सकती है? प्रतिवन्धिः—ईश्वर की सत्तासिद्धि के मार्ग में बाधा पहुंचाने वाला, शशशृंगं कुतस्तराम्—कहां से होगया? अयोग्यम्-

परमेश्वर की सत्ता को, शृंगम्—शशशृंग का दृष्टान्त, क्व—किस आधार पर, वाध्यते—बाधा पहुंचा सकता हैं ? और अनाश्रयम्—आश्रय रहित, अनुमानम्-अनुमान, क्व-कहां पक्ष साधक हो सकता है ?

व्याख्या—संसार में दो प्रकार की अनुपलब्धियें है। एक योग्यानुपलब्धि दूसरी अयोग्यनुपलब्धि, जिन वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है और नाम कल्पना कर लिये गये हैं उन का कहीं भी न पाया जाना योग्य उपलब्धि है-जैसे शशशृंग, गगनारविन्द, वन्ध्यापुत्र और मरुमरीचिका, इत्यादि और जिन पदार्थों की प्रतीति किसी कारण वशात् नहीं होती अथवा चक्षु से दिखाई नहीं देते, उनका उस समय न पाया जाना अथवा चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्रहण के सर्वथा अयोग्य होना अयोग्य उपलब्धि कहलाती है। जैसे वायु, आकाश, काल, मन तथा आत्मा परमात्मा। इन दो प्रकार की अनुपलब्धियों को एक मान लेना और आंख से न दिखलाई देने योग्य वायु आदि पदार्थों को शशशृंग आदि के समान असम्भव मान लेना बड़ी भयंकर भूल है। शशशृंग आदि काल्पनिक हैं और उनका अस्तित्व असम्भव है। उन से किसी भी व्यक्ति की कोई क्रिया या आवश्यकता पूर्ण नहीं होती और न ही उन के विषय में विशेष गुणों तथा नियमों का विधान हो सकता है, दूसरी ओर संसार के अनेकों पदार्थ हैं जो नित्य प्रति प्राणियों के व्यवहार में आते हैं और उन की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वायु के कारण जीवधारियों को श्वास प्रश्वास की क्रीया करने में सुभीता होता है और जीवन के समस्त व्यापार सम्पन्न होते हैं, आकाश के कारण गमनागमन आदि व्यवहार तथा श्रवण श्रावण के कार्य सिद्ध होते हैं। मन बुद्धि चित्त और अहंकार के द्वारा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति का साक्षात् अनुभव होता हैं। मन के कारण ही हर्ष, शोक, भय, लोभ, मोह और काम क्रोध आदि भावों तथा श्रद्धा भक्ति वैराग्य और ज्ञान विज्ञान आदि सद्गुणों को धारण किया जाता है। क्या इन परमोपयोगी पदार्थों को किसीने आजतक अपनी आंखों से देखा है ? न दिखाई देनेपर पर भी क्या कोई इन की सत्ता का निषेध करने का दुःसाहसकर सकता है ? जीवात्मा सभी प्राणियों के शरीरको सं जीवनी शक्ति प्रदान करके इन्द्रियों तथा मन में क्रियाशीलता आरे

स्पूर्ति का संचार करता और जगत् की शोभा को बढ़ाता है और अनेक प्रकार के अद्भुत कर्म करके सुखदुःख भोगता है। इतने पर भी ऐसे परमोपयोगी कार्य कारी तत्वको न तो किसी ने अपनी आंखों से आज तक देखा और न ही कोई देख सकता है। तो क्या कोई आत्म-तत्व के विषय में यह कह सकता है कि मैं नहीं हूं? इसी प्रकार परमात्मा भी—

आखों से दिखाई न देना और वात है तथा पदार्थ की सत्ता का न होना और वात है। इसलिये वायु आदि अदृश्य पदार्थों की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। न ही शशाशृंग आदि काल्पनिक वस्तुओं की दुहाई देकर वायु आकाश मन और आत्मा परमात्मा की सिद्धि के राजपथ में रुकावट डालने वाला प्रतिवन्धि ही माना जा सकता है।

यदि अभावयोग्य शशशृंग आदि को ईश्वर के समान अनिषेध्य माना जावे तो अनिषेध्य से अनिषेध्य का बाध कैसे हो सकेगा। अतः शशशृंगादि को चाहे जैसा भी मानो वे ईश्वर की सत्ता का मार्गवरोध नहीं कर सकते। यह भी कितनी हास्यजनक वात है कि जगन्नियन्ता भगवान् को परास्त करने के लिये नास्तिक चक्रवर्ती अपने प्रधान. सेनापति फील्डमार्शल वन्ध्या पुत्र को नियुक्त करता है वह देखो—

वन्ध्यापुत्रः समयाति खपुष्पकृतशेखरः
मृगतृष्णाजलं पीत्वा शशशृंगधनुर्धरः

अर्थात् आकाश के सुन्दर सुगन्धी पुष्पों का मुकुट पहिने, मृग-तृष्णिका के स्वच्छ सुस्वादु जल का पान करके, शशशृंग से निर्मित अकाट्य धनुष को धारण किये हुए, वह देखो वन्ध्या का पराक्रमी पुत्र चला आ रहा है

यदि कहा जावे कि जगत् कर्ता ईश्वर के लिये शरीरधारी होना आवश्यक है क्योंकि कुलाल आदि शरीरधारी व्यक्ति ही घटादि कार्यों के निर्माण में समर्थ हो सकते हैं परन्तु ईश्वर का शरीरधारी होना असम्भव है—इसलिये ईश्वर नहीं है। ऐसा अनुमान करना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस ईश्वर के अभाव का अनुमान किया जाता है

वह ईश्वर इस अनुमान का आश्रय अर्थात् पक्ष है और पक्ष की सत्ता स्वीकार करके ही उसके गुणधर्मों के विषय में अनुमान किया जा सकता है। यदि आश्रय या पक्ष ही असिद्ध हो तो अनुमान किस के विषय में किया जावेगा। अतः आश्रयासिद्ध होने से नास्तिक का अनुमान सर्वथा दोष दूषित है। आश्रयासिद्ध होना हेतु नहीं किन्तु हेत्वाभास होता है। और यह नियम है कि कोई भी हेत्वाभास अपने पक्ष अथवा सिद्धान्त को सिद्ध नहीं कर सकता।

शंका—ईश्वर का असद्भाव ही हमारी प्रतिज्ञा है अथवा असद्वस्तु कर्ता नहीं हो सकती अतः जैसे वन्ध्यापुत्र कर्ता नहीं वैसे ईश्वर भी जगत् कर्ता नहीं। इसलिये यह अनुमान अनाश्रय नहीं है।

उत्तर—व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥२॥

शब्दार्थ—व्यावर्त्याभाववत्ता एव—किसी भी वस्तु के विषय में यह कहना कि उसमें अभाववत्ता है, यह तभी हो सकता है जबकि, भाविकी—वह वस्तु भावरूप हो। क्योंकि किसी भावरूप वास्तविक पदार्थ में ही, विशेष्यता—अभाव का आश्रय होने की योग्यता हो सकती है। वस्तुनः—पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता को, प्रतियोगित्वम्—अभाव का प्रतियोगी कहने का सीधा अर्थ है, अभाव विरहात्मत्वम्—अपने अभाव का अभाव स्वरूप होना अर्थात् स्वरूप से भावरूप होना।

व्याख्या—यदि नास्तिक यह कहता है कि ईश्वर में 'जगत् कर्तृत्व का अभाव' है और यह सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग करता है तो वह ईश्वर को स्वीकार करके ही उस में 'जगत् कर्तृत्व' धर्म का न होना सिद्ध करना चाहता है क्योंकि धर्मी की सत्ता को स्वीकार करके ही किसी अन्य धर्म का उसमें निषेध किया जा सकता है। और यदि वह ईश्वर की सत्ता का ही अभाव सिद्ध करना चाहता है और इसीलिये अनुमान का प्रयोग करता है तो वह लाख यत्न करने पर भी आश्रयासिद्धि से बच नहीं सकता।

अभाव के विषय में यह जान लेना चाहिये कि—किसी भी वस्तु

के होने को भाव तथा उसके न होने को अभाव कहते हैं। अभाव अर्थात् किसी भी वस्तु का न होना कई प्रकार से हो सकता है। यथा—

(क) प्रागभाव—किसी वस्तु का अपने वर्तमान् स्वरूप से पहिले उस रूप में न हो कर कारण रूप में होना-जैसे वृक्ष अपने लम्बे चौडे आकार में होने से पहिले बीज में सूक्ष्म रूप में रहता है। यह वृक्ष का बीज में प्रागभाव है।

(ख) प्रध्वंसाभाव—किसी वस्तु का अपने वर्तमान रूप को त्याग कर पुनः कारण रूप में लीन हो जाना जैसे घडे का फूट कर मिट्टी में मिलजाना। यह मिट्टी में घडे का प्रध्वंसाभाव है।

(ग) अन्योन्याभाव—किसी भी वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में न होना। जैसे गौ का भैंस न होना और भैंस का गौ न होना। यह गौ का भैंस में और भैंस का गौ में अन्योन्याभाव है।

(घ) सामयिकाभाव—किसी समय में किसी वस्तु का उस स्थान पर न होना जैसा ग्राम्य पशुओं का रात्रि के समय वन में न रहना अथवा अमुक व्यक्ति का अमुक समय में अमुक स्थान पर विद्यमान न होना।

(ङ) अत्यन्ताभाव—किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु के गुण धर्मों का न होना। जैसे-अग्नि में जल का सिंचन या शीतलता नहीं हो सकती।

इन में से किसी भी अभाव पर विचार किया जावे तो यही प्रतीत होगा कि अभाव का प्रतियोगी (जिसका अभाव कहा जाता है) अवश्य ही भावरूप में कहीं न कहीं विद्यमान होता है। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक भाव वस्तु की दो विशेषतायें हुआ करती हैं- पदार्थ का अपने स्वरूप से अवस्थित होना तथा अपने न होने को अपने पास न फटकने देना। इन विशेषताओं के कारण ही पदार्थों को भावरूप कहा जाता है और उनके तत्व ज्ञान के लिये अभाव की सहायता ली जाती है। यदि किसी वस्तु में किसी विशेष गुणधर्म का अभाव कहा जावे तो उस का तात्पर्य यह होता है कि वह वस्तु तो विद्यमान है परन्तु उसके अन्दर अमुक प्रकार के गुण धर्म

नहीं हैं।

ईश्वर के विषय में यदि कर्तृत्व का अभाव कहा जावे तो ईश्वर की सत्ता स्वीकृत मानी जा कर उस के गुणों में 'जगत्कर्ता' होने का गुण स्वीकार नहीं है यह ही वक्ता का आशय समझा जा सकता है। अतः इस अनुमान से ईश्वर का अभाव सिद्ध न हो कर ईश्वर का स्वरूप से विद्यमान होना ही सिद्ध होता है।

जो नास्तिक, अनुमान द्वारा ईश्वर का ही अभाव सिद्ध करने का प्रबल प्रयास करता है उस से पूछा जाना चाहिये कि 'ईश्वर का अभाव' अर्थात् ईश्वर नहीं है-इस वाक्य में किस अभाव से तात्पर्य है। यदि प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव कहा जावे तो ये दोनों; कार्य कारण में हुआ करते हैं और कार्यकारण दोनों ही भावरूप होते हैं अतः ईश्वर भाव पदार्थ ही सिद्ध होता है। यदि अन्योन्याभाव कहा जावे तो वह भी भावरूप ही होता है तथा सामयिकाभाव तो किसी भी अवस्था में कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि सर्व व्यापक और नित्य पदार्थ के लिये ऐसे अभाव को अवकाश नहीं मिल सकता। शेष रह गया अत्यन्ताभाव- यदि वह भी विशेष गुणों अथवा सम्वन्धों का है तो भी भावरूप ही सिद्ध होता है क्योंकि विशेष प्रकार के गुण तथा सम्वन्ध किसी विशिष्ट पदार्थ में अवश्य रहते हैं, अतः 'ईश्वर का अभाव' कहना अभाव के प्रतियोगी की भावात्मक अर्थात् ईश्वर के अभाव को सिद्ध न होने देने वाली प्रभावशालिनी वास्तविक सत्ता को स्वीकार करना है। इस लिये ईश्वर के विषय में कर्तृत्वाभाव तथा ईश्वराभाव प्रतिपादक अनुमान का प्रतिवन्ध लगाना और ईश्वर की अनुपलब्धि की आड लेना सर्वथा युक्ति विरुद्ध है।

शंका—योग्यनुपलब्धि के द्वारा ही अभाव का ज्ञान होता है। आयोग्यनुपलब्धि के द्वारा नहीं हो सकता—यह नियम ठीक नहीं है।

उत्तर—दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृंगादियोग्यता
न स्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति साऽनुपलम्भने ॥६॥

शब्दार्थ—शशशृंगादियोग्यता—शशश्रृंग आदि में जो योग्यता कही जाती है। उसकी, उपलम्भसामग्री—उपलब्धि की सामग्री, दुष्टा—

दोषयुक्त है। यदि कहा जावे कि सीप में रजत के आभास के समान शश के सिर पर भी शृंग की उपलब्धि होने की योग्यता है तो, तस्याम्—उस योग्यता में उपलम्भो न अस्ति—शृंग की उपलब्धि नहीं होती है ऐसा, न—नहीं कहा जा सकता क्योंकि, अनुपलम्भने—अनुपलब्धिकाल में, सा—वह आभासवाली योग्यता, न अस्ति-नहीं हैं

व्याख्या-शशशृंग आदि के अभाव में योग्यता ही कारण है। और योग्यता यह है कि चक्षुः इन्द्रिय से शश के शिर पर स्वच्छ दृष्टि डालने पर भी शृंग की प्रतीति नहीं होती। गौ, भैंस, बकरी आदि के शिर पर ही शृंग दिखाई देते हैं। उन से भिन्न शश के शिर में शृंग होने की सम्भावना अर्थात् योग्यता ही नही है। इस प्रकार की वास्तविक स्थिति को न समझकर यदि कोई यह कहता है कि शश के शिर में शृंग को दिखाने की वैसी ही योग्यता है जैसे कि मरुस्थल में चमकती हुई रेत के अन्दर जल को दिखाने की, अथवा सायंकाल के समय रस्सी के अन्दर सर्प बनने की योग्यता होती है-तो उस का ऐसा कहना सर्वथा दोषयुक्त ही है। दोष यह कि रस्सी में सर्प तथा मरुमरीचिका में जल की प्रतीति करने वाले तो सैकड़ों क्या सहस्त्रों मिल जावेंगे परन्तु शश के शिर पर शृंग का दर्शन करने वाला तो सृष्टि के आदि से आज तक एक भी उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि जिस में जिस वस्तु या दृश्य के दिखाने की योग्यतामें होती है उसी में किसी को उस दृश्य की प्रतीति होती है अन्य में नहीं-जैसे सीप में ही चान्दी की प्रतीति हो सकना सम्भव है कोयला या लोहे तो उस की प्रतीति भ्रान्ति काल में ही हो सकती हैं जो कि आज तक किसी को नहीं हुई, यदि थोडी देर के लिये मान भी लिया जावे कि रस्सी में सर्प तथा सीप में चांदी के समान शश के शृंग में शृंग की दिखाने की योग्यता है तो यह बताना होगा कि प्रतीति काल कौन सा है और शृंग की प्रतीति की सामग्री कौनसी है ? जैसे मरुस्थल में दोपहर के समय कडकडाती धूप में रेतीला स्थान, मृगों या भ्रान्तप्यासे पथिकों को जलाशय के रूप में प्रतीत होने लगता है, अथवा सांयकाल के अन्धेरे समय में रस्सी किसी भी व्यक्ति को सर्परूप में प्रतीत हो कर भयभीत कर देती है। वैसे ही शश के शिर पर दृष्टि डालने से कब और किस को शृंग की प्रतीति होती है ? मरुस्थल के रेत में जल की

रस्सी में सर्प को वक्रता की तथा सीप में चान्दी की स्वच्छता की समानता है—इसी कारण भ्रान्ति से प्रतीति होती है। शश के शिर में शृंग की कोई समानता ही नहीं है इसीलिये किसी को भ्रान्ति भी नहीं होती।

दूसरी बात यह है कि मरुमरीचिका और रज्जु सर्प आदि में भ्रान्ति होती है तो उसकी निवृत्ति भी हो जाती है परन्तु शश शिर में शृंग की भ्रान्ति ही नहीं हो सकती तो निवृत्ति कैसी? यदि प्रतीति काल में उपलब्धि को सत्य माना जावे तो निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, यदि निवृत्ति होती है तो प्रतीति का अस्तित्व वास्तविक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार विचार करने से यही निश्चय होता है कि शशशृंग में रज्जुसर्प तथा सीप चान्दी आदि के समान समानता नहीं है और न ही शशशृंग की आड लेकर अयोग्यों की अनुपलब्धि का तिरस्कार किया जा सकता है।

नियम यही है कि जो वस्तु चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होती है वही योग्य कहलाती है और उसकी किसी स्थान पर उपलब्धि न होना ही योग्यानुपलब्धि कही जाती है ईश्वर में इस प्रकार की अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने की योग्यता नहीं है इसलिये योग्यानुपलब्धि द्वारा ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपितु अयोग्यानुपलब्धि के द्वारा यही सिद्ध होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है। यदि ऐसा न माना जावे तो वायु आदि अनेकों पदार्थों की सत्ता से हाथ धोना पडेगा। परन्तु ऐसा मानना सर्वथा अव्यावहारिक तथा अनुभव विरुद्ध है।

विस्तृत विवेचन—ईश्वरवादके मार्गमें नास्तिकोंकी ओरसे बडे वलके साथ यह आक्षेप उपस्थित होजाता है —यदि ईश्वर नामका कोई पदार्थ होता तो अवश्य आंखों से दिखाई देता। परंतु कोई भी ईश्वर वादी आज तक न तो अपनी आंखों से ईश्वर को कभी देख सका है और न ही किसी अविश्वासी को दिखा सकता है। इस लिये ईश्वरवाद की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले आस्तिक लोगों के सामने सब से बडी आपत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण की है, और प्रत्यक्ष प्रमाण की उपादेयता तथा आवश्यकता इतनी व्यापक है कि कोई भी जिज्ञासु सज्जन प्रत्यक्ष प्रमाण की उपेक्षा नहीं कर सकता।

आइये, प्रत्यक्ष प्रमाण के इस विस्तृत क्षेत्र पर विचार करें और देखें कि क्या सचमुच ईश्वर सिद्धि के मार्ग में प्रत्यक्षवाद का अवरोध कुछ महत्त्व रखता है या नहीं, यदि प्रत्यक्ष वाद का इतना ही विस्तृत साम्राज्य है कि उसके अन्दर ईश्वर की सत्ता नहीं समा सकती तो सचमुच यह स्थिति वडी भयंकर होगी।

पहिले तो यह देखना है कि क्या ईश्वर ही एक ऐसा तत्व है जो आंखों से दिखाई नहीं देता या अन्य भी इसी श्रेणी के पदार्थ हैं जो आंखों से दिखाई नहीं देते, सृष्टि पर दृष्टि डाल कर देखिये तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि एक दो नहीं अनेकों पदार्थ ऐसे हैं जिन को लोग मानते हैं और उन की सत्ता को स्वीकार करते हैं। तव फिर ईश्वर के विषय में ही इतना पक्षपात और दुराग्रह क्यों किया जाता है? जिस प्रकार और पदार्थों की सत्ता मानकर व्यवहार सिद्ध होते हैं उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता को भी क्यों नहीं स्वीकार किया जाता। आप कहेंगे कि वे कौन सी वस्तुएं या पदार्थ हैं, जो आंखों से दिखाई नहीं देते और विद्यमान हैं तथा नास्तिक लोग भी उनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। ऐसे पदार्थों के शुभ नाम ये हैं—प्रकाश, वायु, काल, दिशा, मन, बुद्धि, ईर्षा, द्वेष, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध, तृषा, क्षुधा, निद्रा, शोक, तथा पृथ्वीका भ्रमण करना आदि।

इन में एक तत्व भी ऐसा नहीं है जिसको कोई नास्तिक आंखों से देख सके। तब प्रश्न यह है कि इन की सत्ता पर विश्वास करना और ईश्वर की सत्ता पर आक्षेप करना क्यों कर न्यायसंगत कहा जा सकता है? यदि कोई नास्तिक इन पदार्थों को चक्षुर्ग्राह्य मानता हो तो उस को वताना होगा कि वायुका रूप कैसा है? क्षुधा-तृषा की आकृति में क्या अन्तर है? मन-बुद्धि के आकार प्रकार कैसे हैं? क्या कोई काल का रूप वतला सकता है? क्या कोई किसी भी दिशा का रंग दिखा सकता है? क्या किसी में शक्ति है कि पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घूमते देख सके या किसी अन्य व्यक्ति को दिखला सके? मानना होगा कि किसी में शक्ति नहीं जो इन पदार्थों को आंखों से देख सके या दूसरों को दिखला सके।

प्रत्येक व्यक्ति श्वास लेता है और वायु की सत्ता को स्वीकार करता है, परन्तु आंखों से वायु को नहीं देख सकता। प्रत्येक व्यक्ति

मन से चिन्तन करता है और संकल्प विकल्प करता है परन्तु मन को नहीं देख सकता। कानों से शब्दों को सुनता है। परंतु शब्द को आंखों से नहीं देख सकता। त्वचा से कठोरता या शीतता का स्पर्श अनुभव करता है, परन्तु स्पर्श को आंखों से नहीं देख सकता। प्रत्येक व्यक्ति क्षुधा से व्याकुल होकर भोजन करना चाहता है, परन्तु क्षुधा को अपनी आंखोंसे नहीं देख सकता। तृषा से व्याकुल हो कर पिपासा की शान्ति के लिये जल पीता है, परन्तु तृषाका रूप आंखों से कहीं दिखाई नहीं देता। पृथिवी के भ्रमण पर विश्वास करता है, परन्तु आंखों से नहीं देख सकता कि पृथिवी भ्रमणकर रही है अथवा सूर्य की परिक्रमा कर रही है इत्यादि।

जो लोग ईश्वर को इस लिये नहीं मानते कि ईश्वर आंखों से दिखाई नहीं देता यदि वे अपने सिद्धान्त के पक्के हैं तो उन को चाहिये कि ऊपर कहे हुए वायु मन और पृथिवी भ्रमण आदि को भी मानना छोड दें। जब तक उपर्युक्त पदार्थों पर उनका विश्वास है तब तक उन को ईश्वर के विषय में यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि— यदि ईश्वर होता तो आंखों से अवश्य दिखाई देता।

हम ने उपर्युक्त अदृश्य पदार्थों के उदाहरण देकर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि–किसी भी पदार्थ की सत्ता केवल इस लिये अस्वीकार नहीं की जा सकती कि वह आंखों से दिखाई नहीं देता अथवा वह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस लिये जैसे अदृश्य होने के कारण वायु, मन, शब्द, स्पर्श आदि का अभाव सिद्ध नहीं होता, ठीक वैसे ही अदृश्य होने के कारण ईश्वर का भी असद्भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

हम इस बात को सिद्ध करने और प्रमाणद्वारा परिपुष्ट करने के लिये कई एक और कारणों पर भी प्रकाश डालना चाहते हैं जिस से यह तत्व भली प्रकार समझ में आ सके कि दिखाई न देने के कारण किसी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार न करना भारी भूल है। ऊपर कहे हुए वायु, मन और शब्द स्पर्श आदि भाव, स्वरूप से ही अदृश्य स्वभाव वाले हैं अर्थात् इन में से किसी को भी किसी भी प्रकार से आंखों द्वारा देखा नहीं जा सकता, इसी प्रकार ईश्वर भी स्वरूप से ही अदृश्य स्वभाव वाला है और चक्षु इन्द्रिय द्वारा कभी भी और किसी

भी प्रकार से देखा नहीं जा सकता।

इस के साथ ही यह बात भी कभी विस्मृत नहीं की जानी चाहिये कि-दृश्य स्वभाव वाले पदार्थ भी परिस्थितिवशात् दिखाई नहीं दे सकते; कुछ एक बाधायें इस प्रकार की हो सकती हैं जिन के कारण पदार्थों को देखा नहीं जा सकता। अतः दृश्यमान वस्तु भी अदृश्य हो सकती है। परिस्थिति वशात् दृश्यस्वभाव पदार्थों के दृष्टि गोचर न हो सकने के आठ कारण कहे गये हैं। इन आठ कारणों को यदि हम भली प्रकार से जान लें तो ईश्वर के विषय में नास्तिकों द्वारा प्रयुक्त किया गया अदृश्यत्व हेतु ईश्वरसिद्धि में कभी बाधक नहीं हो सकता। इसलिये जिज्ञासु पुरुषों का परम कर्तव्य है कि तत्त्वज्ञानार्थ अदृश्यत्व के कारणों का परिज्ञान अवश्य प्राप्त कर लें।

अदृश्य होने के आठ कारण

अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थात्।
सौक्ष्म्यात्,व्यवधानात् ,अभिभवात्,समानाभ्यवहाराच्च ॥ सां.का.

(१) अतिदूरात्—अत्यन्त दूर होने से कोई भी दृश्य वस्तु दिखाई नहीं दे सकती क्योंकि जो वस्तु दृष्टि की सीमा से परे है तथा आंखों की रश्मियें वहां पहुंच ही नहीं सकती उस वस्तु को सामने होते हुए भी हम देख नहीं सकते। जैसे पचास, सौ कोस पर होने वाला कोई ग्राम अथवा नगर, अतः वस्तु का बहुत दूर होना भी उसके दिखाई न देने का एक कारण है।

(२) सामीप्यात्—अत्यन्त समीप होने से भी कोई पदार्थ दिखाई नहीं दिया करता। जैसे आंख में पड़ा हुआ काजल, आंख के अत्यन्त समीप है परन्तु आंख उसको देखने में सर्वथा असमर्थ है।

(३) इन्द्रिय घातात्—चक्षुरिन्द्रिय के विकृत होने से भी कोई वस्तु दिखाई नहीं दे सकती। जैसे आंख के दुखने पर या अन्धी होने पर पास पड़ी वस्तु दिखाई नहीं देती। इस पर यदि अन्धा कहे कि यहां कुछ नहीं है अथवा सूर्य-चन्द्रमा और ग्रह नक्षत्रों की सत्ता को स्वीकार न करे तो कोई विचार शील उसकी बात का विश्वास नहीं कर सकता। आंख से देखने मात्र पर विश्वास लाने वालों को विचार करना

चाहिये कि-आंख का दुःखना अथवा अन्धा होना तो दूर रहा, वे लोग यह तो सोचें कि आंखें तो देखती हुई भी भ्रान्ति सागर में धकेल देती हैं। जैसे दो रेलगाडियां पास २ दो लाइनों पर खडी होती हैं। आंख दूसरी चलती हुई गाडी को देख कर यह निश्चय करती है कि जिस गाडी पर हम वैठे हैं वह चल रही है।

पृथिवी वडे वेग से दौड रही है और सूर्य की परिक्रमा कर रही है परन्तु असंख्य मनुष्यों में से किसी भी व्यक्ति की आंखें पृथिवी की आकाशगति को किसी प्रकार नहीं देख सकतीं। जिन आंखों पर नास्तिक लोग इतना विश्वास करते हैं उनकी शक्ति कितनी दूषित और दोष युक्त है-इसको उपेक्षा की दृष्टि से टाला नहीं जा सकता। इसीलिये चक्षु इन्द्रिय का विकृत होना अथवा भ्रान्ति आदि दोष होना किसी पदार्थ के न होने का कारण नहीं हो सकता।

(४) मनोऽनवस्थानात्-मन के अनवस्थित होने पर भी कोई पदार्थ दृष्टि गोचर नहीं हो सकता। कोई भी वस्तु चाहे हमारे अत्यन्त समीप ही क्यों न पडी हो, परन्तु जब तक हमारा मन उससे सम्बन्धित न हों तब तक उसको आंखें देख नहीं सकतीं। पदार्थ पास हो परन्तु मन किसी अन्य कार्य में संलग्न हो तो आंखों के होते हुए भी हम को कुछ दिखाई नहीं देता। कहते हैं किसी राजा ने शुकदेव जी को मनोविज्ञान के कुछ तत्त्व समझाने के लिये एक योजना बनाई। राजा ने शुकदेव जी के हाथ में एक दूध भरा कटोरा रख कर कहा कि जाओ, हमारी सुन्दर नगरी के रमणीय दृश्यों को देख कर अपना चित्त शान्त करो और नयनों को तृप्त करके हमारे पास आओ परन्तु देखो, इस कटोरे में से दूध की एक बून्द भी भूमि पर गिरी तो कृपाण से तुम्हारी गर्दन काट ली जायेगी।

राजा ने नगरी में कई स्थानों पर अद्भुत वस्तुओं का संग्रह करके प्रदर्शिनी बनाई हुई थी। कहीं पर मल्लविद्या विशारद अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे थे। कहीं पर स्त्रियों का समूह नाच गान द्वारा जनता का मनोरंजन कर रहा था। कहीं पर गन्धर्व लोग अनेक प्रकार के वादित्र बजा कर तथा गायन विद्या के चमत्कार दिखा कर जनता जनार्दन को प्रसन्न कर रहे थे। कहीं पर बालक क्रीडा चातुर्य के द्वारा लोगों को आकर्षित कर रहे थे। कहीं पर ब्रह्मज्ञानी मुनिमंडल

ज्ञान चर्चा में चित्त लगा रहा था। इसी प्रकार चित्त चकोर को चञ्चल कर देने वाली शतशः योजनायें स्थान २ पर विद्यमान थीं।

जब शुकदेव जी दोनों हाथों की हथेलियों पर दूध से भरा कटोरा लेकर नगरी के सभी स्थानों से घूम कर राजद्वार पर वापिस आये और दूध का भरा भराया कटोरा राजा को अर्पण किया तो महाराजा ने शुकदेव जी से पूछा—

'क्यों शुकदेव जी! आपने हमारी सुन्दर नगरी के सुन्दर दृश्य देखे?' 'नहीं महाराज!' 'अमुकस्थानपर आश्चर्य कारक खेलोंको देखा?' 'नहीं महाराज!' 'अच्छा शुकदेव जी! एक स्थान पर गन्धर्व लोग अद्भुत वाजे वजाकर सुन्दर साम गायन कर रहे थे सो तो सुना होगा, कैसा था?' 'मैंने नहीं सुना महाराज!' 'अच्छा शुकदेव जी! मार्ग में बालकों के कुतूहलमय कला कौतुक का तो अवलोकन किया होगा कैसा था?' 'महाराज मैंने नहीं देखा।' 'तो शुकदेव जी! मुनिमंडल को ब्रह्मज्ञान का उपदेश होते तो देखा होगा?' 'नहीं महाराज, मुझ को कुछ पता नहीं।' शुकदेव जी के साथ जाने वाले खड्गधारी पहरेदार से महाराज ने पूछा। 'क्यों पहरेदार! क्या शुकदेव जी को प्रदर्शिनी और खेल कूद के मार्ग से नहीं ले गया था?' 'उसी मार्ग से ले गया था अन्नदातः!' 'क्या मार्ग में गन्धर्व सभा और ब्रह्मज्ञान के उपदेश नहीं हो रहे थे!' 'हो रहे थे महाराज!' 'फिर शुकदेव जी कैसे कहते हैं कि उन्होंने कुछ नहीं देखा।' 'क्षमा हो अन्नदातः, इसका उत्तर शुकदेव जी ही दे सकते हैं उनसे ही पूछने का कष्ट करें।'

'क्यों शुकदेव जी! यह क्या बात है। आप को वे सब दृश्य क्यों नहीं दिखाई दिये?' शुकदेव जी ने कहा--'महाराज, मेरी दृष्टि दूधभरे कटोरे पर लगी थी। मैं कटोरे से दृष्टि हटाता तो दूध गिर पडता और दूध के गिरते ही आपका यह पहरेदार अपनी कृपाण से मेरी गर्दन काट देता। लाख सुन्दर और आकर्षण करने वाले मनोहर दृश्य थे परन्तु मेरे मन में मृत्युभय का भयंकर साम्राज्य स्थापित था। मैं दृश्यों को कैसे देख सकता था?'

महाराजा ने कहा-'शुकदेव जी, ईश्वर आनन्द स्वरूप हैं और समस्त प्राणियों को अपनी ओर आकर्षण करना चाहता है परन्तु जो लोग अपने मन को विषयवासना में चिपकाये रखते हैं (जैसे आपने

दूध के कटोरे में चित्त चिपकाये रखा था) वे लोग ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकते।'

इसलिये यदि मन कहीं अन्यत्र लगा हुआ हो तो भी आंखों से सामने पडी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

(५) सौक्ष्म्यात्—सूक्ष्म होने से भी कोई पदार्थ आंखों से दिखाई नहीं देता। जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होगा, आंखों की पहुंच से वह उतना ही दूर होता जायगा। इसी लिये अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु, वायु आदि पदार्थ, चक्षु इन्द्रिय से दिखाई नहीं दे सकते। आंख स्वयं स्थूल है। उस में सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करने की शक्ति भी नहीं हैं और परमेश्वर तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है उस को आंखें से किस प्रकार देख सकती हैं? परमेश्वर के लिये यह प्रश्न करना कि–ईश्वर को हमें आंखें से दिखलाओ–निरी मूर्खता और अज्ञान की पराकाष्ठा है क्योंकि जब वायु और परमाणु जैसे सूक्ष्म पदार्थों को आंखें नहीं देख सकतीं तो इन से भी परे सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमात्मतत्व को कैसे देख सकती हैं?

(६) व्यवधानात्—व्यवधान के आजाने से भी कोई पदार्थ दिखाई नहीं दे सकता जैसे दीवार के आजाने पर परे का घर दिखाई नहीं देता, पेटी के अन्दर की वस्तुएं दृष्टिगोचर नहीं होतीं तथा पर्वत के पीछे भी कुछ दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि—पर्दे के पड जाने से विद्यमान वस्तु भी अदृश्य हो जाती है। इस से सिद्ध होता है कि जब तक हमारे अन्तःकरण पर अविद्या का पर्दा पडा हुआ है हम को ईश्वर का साक्षात्कार किसी प्रकार नहीं हो सकता।

(७) अभिभवात्—अभिभव से भी उपस्थित पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे दिन के समय सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश से ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश मन्द पड जाता है और आकाश में विद्यमान ग्रह नक्षत्रों को कोई भी आंखों से नहीं देख सकता। अथवा अग्नि कुण्ड में डाले हुए सन्तप्त लोहे की कालिमा को नहीं देखा जा सकता तथा अग्नि में पडे हुए सुवर्ण तथा चान्दी का अपना वर्ण प्रतीत नहीं होता। इस से यदि कोई कहे कि लोहे या कोयले में कालिमा नहीं है या चान्दी तथा सुवर्ण का अपना रूप रंग कुछ नहीं है–तो यह भारी भूल होगी क्योंकि अग्नि से बाहिर निकालने पर लोहा और कोयला का रंग

काला प्रतीत होने लगता है तथा चान्दी श्वेत और सुवर्ण पीला दिखाई देने लगता है।

अतः अभिभव के कारण भी विद्यमान पदार्थों का दर्शन नहीं हो सकता।

(८) समानाभ्यवहारात्—समानाभ्यवहार से भी पदार्थों की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे १५ सेर दूध में २ सेर पानी मिला दिया जावे, आटे में लवण, पानी में शक्कर अथवा भोजन में विष मिला दिया जावे तो पानी, लवण और शक्कर तथा विष की प्रतीति नहीं होती। इससे यदि कोई कहे कि दूध में पानी होता तो आंखों से दिखाई देता। यदि आटे में लवण होता तो आंखों से दिखाई देता। यदि पानी में शक्कर होती तो आंखों से दिखाई देती और यदि भोजन में विष होता तो आंखों से दिखाई देता। परन्तु इन में से कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देती, इसलिये दूध में पानी नहीं है, आटे में लवण नहीं है, पानी में शक्कर नहीं है और भोजन में विष भी नहीं है। ऐसे अज्ञानी का कहना प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि अत्यन्त घुलमिल जाने से भी पदार्थों की आंखों द्वारा प्रतीति नहीं हो सकती।

तिलों में तेल, दही में घृत और लकडी में अग्नि भी छुपी रहते हैं, परन्तु आंखों से दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार जगत् के पदार्थों में परमेश्वर भी व्यापक होकर छुपा हुआ है इसलिये आंखों से दिखाई नहीं दे सकता। उपनिषत् में ऋषि ने कहा है कि—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥श्वे०॥

अर्थात् जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घृत, स्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि व्यापक और गुप्त रहते हैं और विना विशेष प्रयत्न किये आंखों से दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा व्यापक और गुप्त हो कर स्थित है। जो जिज्ञासु सज्जन, सत्य को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं वे कठोर तपश्चर्या के शुद्ध नियमों पर आचरण करते हुए अपने हृदय में ही परमेश्वर को प्राप्त कर लेते हैं।

जो लोग यह कहते हैं कि संसार में साकार पदार्थ ही हैं निराकार पदार्थ एक भी विद्यमान नहीं है। उनकी सन्तुष्टि के लिये हमने पूर्वोक्त प्रक्रिया के द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया है कि अनेकों पदार्थ निराकार अर्थात् आकार रहित विद्यमान हैं और दृश्य स्वभाव वाले पदार्थ भी परिस्थिति वशात् अदृश्य हो जाते हैं। इसलिये सत्य के जिज्ञासु व्यक्ति को 'आंखों से देखने' पर विशेष आग्रह नहीं करना चाहिये। इस पर भी जो यह कहता है कि संसार में आकार से शून्य कोई भी पदार्थ नहीं है उसको शुद्ध हृदय से वायु तत्त्व पर विचार करके अपनी भ्रान्ति का संशोधन कर लेना चाहिये।

वायु एक ऐसा तत्व है जिस की सत्ता से कोई भी साकारवादी इनकार नहीं कर सकता। मोटरों और साइकिलों के चक्रों में तथा फुटवाल-वालीबाल आदि में वायु का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को धारण करने के लिये नासिका द्वारा श्वास प्रश्वास लेकर वायु की आवश्यकता को सदा अनुभव करता है। यह प्राण वायु ही है जिस के विना शरीर मृतक हो जाता है। मेघमण्डल को समुद्र से उडा कर पर्वतों पर लाना और उनको परस्पर टकरा कर विद्युत् प्रकाश करना—यह भी वायु के कारण ही होता है। आंधी का वेग से आना, छप्परों का उल्टाना, वृक्षों का गिराना भी वायु का ही कार्य है। वाटिका, उद्यान के फलों फूलों और पत्रों की सुगन्धी तथा गन्दी वस्तुओं की दुर्गन्धी को कहीं का कहीं पहुंचाना, वायु के द्वारा ही होता है। इस प्रकार दिन रात वायु के कार्य देखने सुनने में आते हैं। इस पर भी जो व्यक्ति ऐसे विचित्र कार्य कारी पदार्थ की सत्ता को नहीं मानता वह न तो सच्चा जिज्ञासु ही कहला सकता है और न ही तत्व ज्ञानी।

जब पूर्वोक्त विचित्र कार्य करने वाले वायु का इतना प्रभावशाली विस्तृत कार्य क्षेत्र है तो उसके आकार प्रकार की जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। प्रश्न यह है कि वायु का स्वरूप क्या है? वायु का रूप रंग कैसा है? कितने आश्चर्य का विषय है कि—ऐसे प्रसिद्ध और प्रभावशाली पदार्थ को संसार का कोई व्यक्ति अपनी आंखों से देख नहीं सकता। इसीलिये कहना होगा कि वायु का कोई रूप रंग नहीं है। रूपरंग से रहित होना अथवा अमूर्त होना एक ही बात है। सभी

दर्शनशास्त्र और उपनिषत् भी वायु को मूर्ति रहित, निराकार अथवा आंखों से न दिखाई देने वाला ही वर्णन करते हैं। यथा—

तदमूर्तं यद्वायुश्चाकाशञ्च ॥वृह.॥

अर्थात्—यह जो वायु और आकाश हैं ये अमूर्त हैं-निराकार हैं। इस प्रकार साकारवादी को वायु का उदाहरण देकर अथवा पूर्वोक्त क्षुधा-तृषा, शब्द-स्पर्श तथा परमाणु आदि निराकार पदार्थों का उदाहरण देकर निराकार पदार्थों की सिद्धि कराई जानी चाहिये। निराकार पदार्थों की सिद्धि होते ही प्रत्यक्षवाद का दुर्गम दुर्ग धडाम से गिर जायगा। इसके पश्चात् किसी भी विचार शील व्यक्ति को यह कहने का साहस नहीं हो सकेगा कि—यदि ईश्वर होता तो आंखों से अवश्य दिखाई देता।

इतने पर भी यदि कोई दुराग्रहपूर्वक यही कहा करे कि-"हम तो उसी वस्तु को मान सकते हैं जिस को हम अपनी आंखों से देख लें। जो हम को दिखाई नहीं देता, उस पदार्थ की सत्ता ही नहीं है।"

इस प्रकार का विचार रखने वाले व्यक्तियों से आग्रह के साथ बलपूर्वक पूछा जाना चाहिये कि—

क्यों जी, आपने अपनी आंखों से अपना सिर देखा है ?

क्या आपने अपनी आंखों से अपनी गर्दन देखी है ?

क्या आपने अपनी आंखों से अपने कान देखे हैं ?

क्या आपने अपनी आंखों से अपने दान्त देखे हैं ?

उत्तर में यदि कहा जावे कि- हां, हमने अपना शिर गर्दन, कान और दान्त देखे हैं तो यह बात सोलह आना झूठ है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी आंखों से अपने शिर, गर्दन कान और दान्तों को कभी नहीं देख सकता।

यदि कहा जावे कि-नहीं, हमने अपनी आंखों से नहीं देखे हैं तो फिर प्रश्न यह होगा कि विना आंखों देखी पर विश्वास क्यों करते हो ? यह क्यों नहीं मानते कि-मेरा शिर नहीं है, मेरी गर्दन नहीं है, मेरे कान नहीं हैं और मेरे दान्त नहीं हैं।

यदि कहा जावे कि हम अपने शिर आदि अंगों को हाथ से स्पर्श कर के अथवा दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब देख कर जानते हैं हमारे ये अंग हैं। परन्तु ऐसा मानना—अनुमान ही कहा जा सकता है 'आंखों देखा' प्रत्यक्ष नहीं कह सकते।

इतने पर भी यदि कोई हठ और दुराग्रह करे तो उससे, फिर पूछा जाना चाहिये कि—

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिस ने गर्भाशय से अपने बाहर आने का दृश्य अपनी आंखों से देखा हो?

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो दूसरों को निश्चय करा सके कि अमुक व्यक्ति ही मेरे माता पिता हैं—क्या इस विषय में उस ने अपनी आखों से काम ले कर निश्चय किया है क्या?

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिस ने अपनी आंखों से पृथिवी को सूर्य की परिक्रमा करते देखा है?

उत्तर में कहना पडेगा कि—नहीं किसी ने नहीं देखा। फिर क्या उपर्युक्त घटनायें मिथ्या हैं? नहीं, मिथ्या नहीं हैं। सर्वथा सत्य और सोलह आना सत्य हैं। बात यह है कि शरीर की रचना से पूर्व आंखों का अस्तित्व ही नहीं था। जब देखने का साधन ही नहीं था तो देखा कैसे जा सकता था गर्भाशय से बाहर आने का दृश्यभी इसी लिये दिखाई नहीं दे सकता कि जिन आंखों से देखा जा सकता है उन पर तो जरायु का पर्दा पडा होता है जरायु के नीचे से आंखें कैसे देख सकती हैं।

रहा पृथिवी का घूमना और सूर्य की परिक्रमा करना—यह भी आखों से इस लिये नहीं दिखाई दे सकता कि—आंखों का ऐसी परिस्थिति में आना असम्भव हैं जिस में आंखें पृथिवी को घूमते हुए देख सकें, बात यह है कि जब तक हम पृथिवी से १५ सहस्र मील ऊपर न उठजावें तब तक हम पृथिवी को घूमते हुए देख नहीं सकते। और यह तभी सम्भव है जब हम पृथिवी के प्रबल आकर्षण नियमों को तोडकर इतना दूर जा सकें। पृथिवी के आकर्षण को तोडकर इतना ऊपर जाना सर्वथा असम्भव है। भौतिक विज्ञान अपनी सम्पूर्ण याजनाओं का भरपूर परीक्षण कर के इस परिणाम पर पहुंचा है कि

महान् से महान् और आश्चर्यकारी अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों की सहायता से भी हम पृथिवी से इतनी दूर पर किसी प्रकार नहीं पहुंच सकते और न ही प्राण वायु के प्रभाव से इतनी दूरी पर जीवित रह सकते हैं—देखने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब वस्तुस्थिति इस प्रकार है तो अपनी आंखों से ही देखने पर आग्रह करना-विशेषतः न दिखाई दे सकने वाली वस्तुओं की सत्ताओं के विषय में यह कोई बुद्धि मानी की बात नहीं कही जा सकती।

प्रत्यक्ष के ईश्वर सिद्धि में बाधक होने के विषय में इतना आवश्यक विचार कर चुकने के पश्चात् अब हम यह कह सकते हैं कि-ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक नहीं किन्तु साधक हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि

'प्रत्यक्ष' शब्द भारतीय दर्शनशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। प्रत्येक शास्त्र ने इस शब्द की मीमांसा में कुछ न कुछ विशेष प्रकार से व्याख्यान किया है। इस बात पर प्रायः सभी सहमत और एकमत हैं कि आन्तरिक तथा बाह्य भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। बाह्य प्रत्यक्ष, बाह्य करणों अर्थात् चक्षु आदि ज्ञान इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है और आन्तरिक प्रत्यक्ष, अन्तःकरणों अर्थात् मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध रखता है।

बाह्य प्रत्यक्ष—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा ये पांच ज्ञान इन्द्रियें हैं, इन के द्वारा जो ज्ञान होता है वह बाह्य प्रत्यक्ष है। यथा—आंखों से देखना चाक्षुष प्रत्यक्ष है। कानों से सुनना श्रावण प्रत्यक्ष है। नाक से सूंघना घ्राणज प्रत्यक्ष है। रसना से चखना रासन प्रत्यक्ष है और त्वचा से स्पर्श करना स्पार्शन प्रत्यक्ष है। इस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष पांच प्रकार का है और पांच ज्ञान इन्द्रियों से पांच प्रकार की वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है अर्थात् किसी भी बाह्य पदार्थ को आंखों से देख कर उसके रूपरंग का ज्ञान होता है। कानों से सुन कर कटु अथवा प्रिय शब्द का ज्ञान होता है। किसी पदार्थ को नासिका से सूंघ कर उसकी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का ज्ञान होता है। जिह्वा से चख कर उसके स्वाद अथवा खट्टे-मीठे आदि रस का ज्ञान

होता है, किसी भी पदार्थ को छू कर उसके गरम- सर्द अथवा नरम-कठिन स्पर्श का ज्ञान होता है।

जो लोक आंखों से देखने मात्र को ही प्रत्यक्ष कहा करते हैं उन को अपने भ्रम का संशोधन कर लेना चाहिये। क्योंकि केवल आंखों से देखने मात्र का नाम ही प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु कानों से सुनना, नाक से सूंघना, जिह्वा से चखना और त्वचा से स्पर्श करना भी प्रत्यक्ष है। बात यह है कि संसार के बाह्य पदार्थों की सत्ता केवल चक्षु द्वारा ही नहीं प्रतीत होती अपितु बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जिन को नाक तथा जिह्वा से अनुभव करके जाना जाता है। बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिन के अस्तित्व का ज्ञान कानों और त्वचा से होता है। यदि संसार के सकल पदार्थों के ज्ञान के लिये चक्षु इन्द्रिय ही पर्याप्त होती और बिना चक्षु के किसी पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव होता तो नाक, कान जिह्वा तथा त्वचा इन्द्रियों की कोई आवश्यकता न रहती और न ही ये इन्द्रियें शरीर में यथा स्थान होतीं परन्तु ये शरीर में हैं और अपनी विशेष उपयोगिता का प्रमाण देती हैं, अतः संसार के पदार्थों के ज्ञान के लिये केवल चक्षु इन्द्रिय पर्याप्त नहीं है; कान आदि अन्य इन्द्रियें भी परम सहायक हैं। यह हुआ बाह्य पदार्थों के ज्ञान का विषय अर्थात् पांच प्रकार के बाह्य प्रत्यक्ष का वर्णन। इसके अतिरिक्त एक और प्रत्यक्ष भी है जिसको आन्तरिक प्रत्यक्ष कहते हैं। मानस प्रत्यक्ष भी इसे ही कहते हैं। आन्तरिक प्रत्यक्ष का ज्ञान होना भी परम आवश्यक है और जब तक इस प्रत्यक्ष का परिज्ञान प्राप्त न हो। तब तक प्रत्यक्ष विषयक ज्ञान अपूर्ण तथा अधूरा ही कहा जावेगा।

आन्तरिक प्रत्यक्ष—जैसा बाह्य प्रत्यक्ष से बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है और बाहय करण अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियें उसके साधन हैं इसी प्रकार आन्तरिक पदार्थों के ज्ञान के लिये मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तः करण हैं। इन साधनों के द्वारा हम को अन्दर के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे मन के द्वारा सुख दुःख का ज्ञान होता है। राग-द्वेष और लोभ मोह आदि का ज्ञान भी मन के द्वारा ही होता है। यदि बाहय प्रत्यक्ष से अतिरिक्त, आन्तरिक प्रत्यक्ष की सत्ता स्वीकार न की जावे तो सुख दुःख की अनुभूति नहीं हो

सकेगी। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति सुख को भी अनुभव करता हैं और दुःख को भी, इसीलिये सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति के लिये पुरुषार्थ करता हैं। सुख और दुःख ऐसे तत्व हैं जिनकी सिद्धि के लिये किसी विशेष तर्क वितर्क की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन का अस्तित्व ही सब प्रकार की चेष्टाओं और क्रिया कलापों का केन्द्र है। सब प्रकार के कर्मों का फल या तो सुख में समाप्त होता है अथवा दुःख में।

अब प्रश्न यह हैं कि-सुख दुःख का अनुभव अथवा इनके अस्तित्व का ज्ञान किस इन्द्रिय के द्वारा होता है? आंखों से होता है-यह नहीं कह सकते क्योंकि आंखों से केवल रूप रंग अथवा आकार प्रकार का ज्ञान होता है। कानों से होता है-यह भी नहीं कह सकते क्योंकि कानों से केवल शब्दों को ही सुना जा सकता है। नाक से होता है-यह भी नहीं कह सकते क्योंकि नाक से केवल सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का ही ज्ञान होता हैं। यदि कहो कि-जिह्वा के द्वारा सुख दुःख का ज्ञान होता है तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि जिह्वा से केवल खट्टे मीठे आदि स्वाद का ही ज्ञान होता हैं। अच्छा तो हम यह मान लेते हैं कि त्वचा अर्थात् छूने से सुख दुःख की सत्ता का ज्ञान होता है-परन्तु आप ऐसा भी नहीं मान सकते क्योंकि त्वचा इन्द्रिय के द्वारा केवल कठिन—मृदु अथवा गरम—सर्द तथा हल्के—भारी होने का ही ज्ञान होता हैं।

जब पांचों ज्ञान इन्द्रियों के अपने २ ज्ञान क्षेत्र पृथक २ हैं और कोई भी इन्द्रिय अपने से भिन्न दूसरे इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती और सुख दुःख का अनुभव करना इन सब के कार्य क्षेत्र की सीमा से दूर हैं तो यह प्रश्न स्वभावतः फिर सामने आता है कि—सुख दुःख का ज्ञान किस इन्द्रिय के द्वारा होता है? वह इन्द्रिय मन हैं। मन के द्वारा अनुभव करके हम कहते हैं कि—मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं। अतः सुख दुःख की अनुभूति ही यह सिद्ध करती है कि इनकी अनुभूति मिथ्या नहीं और न ही सुख दुःख का अस्तित्व ही भ्रान्तियुक्त हैं। प्रत्युत इसके विरुद्ध सुख दुःख के साथ मन की सत्ता भी सिद्ध होती है क्योंकि मन के बिना सुख दुःख का ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। जहां सुख दुःख, चक्षु आदि किसी इन्द्रिय का

विषय नहीं है वहां मन बुद्धि आदि अन्तः करण भी चक्षु आदि किसी इन्द्रिय का विषय नहीं हैं।

बाह्य प्रत्यक्ष के लिये जैसे इन्द्रियों का स्वच्छ, स्वस्थ और कार्यकारी होना आवश्यक है वैसे ही आन्तरिक प्रत्यक्ष के लिये भी मन बुद्धि आदि अन्तःकरणों का स्वच्छ, स्वस्थ और कार्यकारी होना परम आवश्यक है। क्योंकि किसी भी साधन के अस्वच्छ होने से उस के द्वारा अभिलषित ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि आंख दुखती हो मोंतियाविन्दु पड गया हो तो ठीक प्रकार से पदार्थों की प्रतीति नहीं होती। कान वधिर हों अथवा दुःखते हों तो शब्द ठीक प्रकार से सुनाई नहीं देते, नाक की घ्राण शक्ति यदि नष्ट हो जाये तो सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार स्नायु जाल विकृत हो जाय अथवा पक्षाघात का प्रहार हो कर त्वचा ज्ञानशून्य हो जावे तो स्पर्श करने पर भी गरमी सरदी आदि ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार स्वस्थता अथवा स्वच्छता का नियम चक्षु आदि बाह्य ज्ञान साधनों के कार्यकारी होने के विषय में लागू होता है उसी प्रकार ज्ञान के आन्तरिक साधनों मन बुद्धि आदि पर भी लागू होता है। यदि, मन शुद्ध हो, एकाग्र हो और स्वस्थ हो तो उस के द्वारा सुख दुःख आदि आन्तरिक सूक्ष्म पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, यदि मलिन हो तो नहीं होता।

जिन जिज्ञासुओं ने अपने हृदय को स्वच्छ किया है और मन को शुद्ध पवित्र करके शुभ संकल्पवाला बनाया है उन्हों ने साक्षी दी है कि समाधि में न केवल आत्मा का अपितु परमेश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष, इन्द्रिय जन्य ज्ञान के समान बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है। यह तो सुख दुःख आदि के अनुभव के समान मानसिक अनुभूति है। इस मानसिक अनुभव की यथार्थता और सत्यता भी वैसी ही युक्तियुक्त और सत्यतापूर्ण है, जैसी कि देखने सुनने आदि की होती हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि एक बाह्य विषयका बाह्य साधन से बाह्य प्रत्यक्ष है और दूसरा आन्तरिक पदार्थों का आन्तरिक साधन (मन) से आन्तरिक प्रत्यक्ष दोनों के विषय, साधन, ज्ञान और नाम पृथक् २ हैं इस लिये हम डंके की चोट से कहेंगे ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण है और वह है मानस प्रत्यक्ष।

सहस्त्रों ऋषि मुनि और योगी योगीश्वर हो गये हैं जिन्हों ने कठोर तपश्चर्या द्वारा मन बुद्धि आदि अन्तः करणों को स्वच्छ और पवित्र बनाने में जीवन भर परिश्रम किया और ध्यानावस्थित हो कर समाधि में परमेश्वर का साक्षात्कार किया था। उन महानुभावों का ईश्वर दर्शन करना, प्रवञ्चना अथवा प्रतारणा नहीं कहा जा सकता क्योंकि शुद्धान्तः करण वीतराग तत्वदर्शियों का जन समूह से सर्वथा दूर परम निर्जन एकान्त स्थान में गुप्त हो कर समाधिस्थ होना —छल कपट की परिभाषा के अन्दर नहीं आ सकता। जिस२ महाभाग ने ध्यान और समाधि का ठीक २ अभ्यास किया उस २ ने ईश्वर का साक्षात्कार करके साक्षा दी है और अपने अनुभवों को प्रकाशित करते हुए कहा है कि परमेश्वर हृदय में विराजमान है। उसके साक्षात्कार करने से हृदय की ग्रन्थियें छिन्न भिन्न हो जाती और संशय नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। दुःख की हानि और आनन्द की प्राप्ति होती हैं। जैसा कि अंगिरस ऋषि, उपदेश करते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्डक उप०

अर्थात्—हृदय की गांठें टूट जाती हैं, सर्व प्रकार के संशय छिन्न भिन्न हो जाते हैं। सभी कर्म और उनके दुःखादि फल क्षय हो कर परम आनन्द की प्राप्ति होती हैं—उस परमेश्वर के साक्षात्कार हो जाने पर (यह सब होता है)।

जो लोग उपयोगितावाद का आश्रय लेकर यह कहा करते हैं कि ईश्वर की सत्ता यदि है भी तो वह कोई लाभदायक वस्तु नहीं है ऐसे लोग उपनिषत् के इन ऋषि- वचनों पर शुद्ध हृदय से एकान्त में विचार करें और देखें कि ईश्वरवाद से कितना लाभ उठाया जा सकता है, हृदय की गाठों का खुल जाना, सभी संशयों का निवृत्त हो जाना, कर्मों का फल सहित नष्ट हो कर पुनर्जन्म के चक्र से छूट जाना और परम आनन्द मोक्ष का प्राप्त करना—ये चार लाभ क्या कम हैं? क्या आप इनका कुछ भी मूल्य नहीं लगा सकते? यदि ऐसा है तो सचमुच आप जौहरी नहीं है। रत्नों की परीक्षा और पहचान नहीं कर सकते। अस्तु।

यदि संसार के वाह्य स्थूल पदार्थों का पता देने वाले और उन पदार्थों से लाभ उठाने का वर्णन करने वाले यथार्थ वादी और सच्चे कहे जा सकते हैं तो आन्तरिक सूक्ष्म पदार्थों का पता देने वाले तथा उनसे लाभ उठाने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का व्याख्यान करने वाले भी यथार्थवादी और सच्चे कहे जाने चाहियें। अतः अन्तः प्रत्यक्ष द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार करने वालों को मिथ्या वादी पाखण्डी अथवा कपटी आदि नहीं कहा जा सकता और यदि कोई ऐसा कहने का दुराग्रह करता है तो वह अपने आप को धोखा देकर अन्याय के पापगर्त में गिरता है। तैत्तिरीय उपनिषत् में कहा है—

असन्नेव स भवति असत् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चे द्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥ तै० उ०

अर्थात्—वह व्यक्ति असत् ही हो जाता है जो परमेश्वर को असत् मानता है और जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके भली प्रकार जानता है कि—ईश्वर है, उसके विषय में विद्वान् कहते हैं कि उसकी सत्ता तथा उसका विचार सत्य पर आश्रित हैं। फिर वही ऋषि अपने लोकोत्तर शुद्ध अनुभूत ज्ञान के बल पर बोलता है कि—

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं
ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि।
ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तै० आ०॥

अर्थात्—हे परमेश्वर! आप वायु के समान प्रत्यक्ष लाभदायक हो। आप को बारम्बार नमस्कार है। भगवान्! मैं हृदय से विचार करके कहता हूं कि आप प्रत्यक्ष हो। मैं सदा यही कहूंगा कि आप प्रत्यक्ष हो। सच २ कहता रहूंगा कि परमेश्वर वायु के समान निराकार है और मानस प्रत्यक्ष का विषय है और जिस प्रकार वायु प्राणाधार है उसी प्रकार परमेश्वर भी जीवनाधार है। मैं सदा इस सत्य का प्रकाश करता रहूंगा।

इन वाक्यों का परम तात्पर्य यह है कि परमेश्वर है और वह वायु के समान निराकार सर्वव्यापक और जीवन के लिये परम उपयोगी तत्व है। ईश्वर को प्रत्यक्ष कहना और मानना सर्वथा सत्य है

ऐसा कहने में झूठ तथा धोखे का लेशमात्र भी नहीं है। दर्शन शास्त्र और उपनिषत् के ऋषियों ने ईश्वर के प्रत्यक्ष करने को 'निदिध्यासन' का नाम दिया है और स्थान २ पर कहा है कि—

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ॥ (कठ)

अर्थात्—सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करने वाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही सूक्ष्म दर्शी महात्मा, परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं। यहां यह बात अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिये कि बुद्धि से देखने तथा आंखों से देखने में आकाश पाताल का अन्तर है। 'देखने' का शब्द देख कर कोई यह न समझ बैठे कि परमात्मा को आंखों से देखा जा सकता है क्योंकि आंखों से दिखाई देने वाली वस्तु सावयव होने से सदा अनित्य और जड ही होती है। परन्तु ईश्वर निरवयव तथा नित्य चैतन्य स्वरूप है। इसी लिये उसका दर्शन अर्थात् यथार्थ ज्ञान आंखों द्वारा नहीं हो सकता किन्तु शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा विचार करने से ही होता है। दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर का साक्षात्कार आंखों द्वारा देखने से ही हो सकता तो सूक्ष्म बुद्धि से प्रत्यक्ष करने पर विशेष बल कभी नहीं दिया जाता एक और प्रत्यक्षदर्शी महानुभाव कहते हैं कि—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्। श्वेता० उ०।

अर्थात्—ऋषियों ने ध्यानयोग में समाधिस्थ हो कर परमेश्वर का साक्षात्कार किया।

यही तत्व अंगिरस् ऋषि ने अपने प्रिय शिष्य शौनक को समझाते हुए कहा था कि—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ॥ मुण्डकोपनिषत्।

अर्थात्—यह आत्मा परम सूक्ष्म है इसको बाह्य इन्द्रियों से किसी प्रकार ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह तो शुद्ध मन के द्वारा ही जाना जा सकता है। किं बहुना, यही चर्चा वैवस्वत यम आचार्य ने अपने प्रिय शिष्य बाल ब्रह्मचारी नचिकेता को समझाते हुए चलाई थी—

मनसै वेदमाप्तव्यम्। कठोपनिषत्।

अर्थात्—इस चैतन्य स्वरूप आत्मा को शुद्ध और एकाग्र मन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

किमधिकम्—सौ सियाने एकमतवाली बात है। जिस किसी ने भी मन बुद्धि को शुद्ध करके ध्यान योग का आश्रय लिया, उस २ ने ही ईश्वर का साक्षात्कार किया और ईश्वर के अस्तित्व की साक्षी दी।

प्राचीन काल के गौतम व्यास जैसे युक्ति निपुण महान् तार्किक शिरोमणि अपने २ वक्तव्यों में अद्भुत युक्ति कौशल से सिद्ध कर गये हैं कि—मन, बुद्धि, आत्मा, परमात्मा जैसे अनेकों ऐसे पदार्थ हैं जो रूप रहित निराकार और अतीन्द्रिय अर्थात् किसी भी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की पहुंच से परे हैं तथा उनकी सत्ता मानस प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध कर गये हैं कि—जिस प्रकार दृश्य स्वभाव वाली वस्तुओं के अनुभव करने के लिये इन्द्रियों का निरोग होना और कार्यकारी होना आवश्यक है उसी प्रकार निराकार और अमूर्त पदार्थों के अनुभव करने के लिये मन बुद्धि का शुद्ध तथा दोष रहित होना परम आवश्यक है। किसी वस्तु की प्रतीति न होने के जिस प्रकार इन्द्रिय दोष आदि कारण हैं और इन्द्रियों के दोष दूर हो जाने से वस्तु की प्रतीति हो जाती है उसी प्रकार आत्मा परमात्मा के साक्षात्कार न हो सकने के कारण मन और बुद्धि के दोष ही हैं। इन दोषों के दूर हो जाने के पश्चात् ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। मन बुद्धि के जिन दोषों के कारण ईश्वर का अनुभव नहीं होता उनकी गणना इस प्रकार है—

दुराचार परायणता, मिथ्यावादी होना, संशय निमग्नता, सत्य से प्रेम न करना, स्वाध्याय से घृणा करना, एकान्त सेवन का त्याग, अभिमान का पालन पोषण करना, असहिष्णुता, मिथ्याज्ञान, अविद्या, आवरण तथा चंचलता इत्यादि।

इन सब दोषों का निवारण अष्टांग योग पर आचरण करने से होता है। जैसा कि परमेश्वर दर्शन के अद्वितीय उपदेष्टा परमात्मदर्शी योगीश्वर पतञ्जलि महामुनि ने योग दर्शन में लिखा है—

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान दीप्तिराविवेकख्यातेः। योग दर्शन

अर्थात्—अष्टांग योग के अनुष्ठान करने से मन बुद्धि और इन्द्रियों के सब प्रकार के दोष क्षीण हो जाते हैं। दोषों के दूर हो जाने के पश्चात् ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर बढने लगता है। यह ज्ञान इतना बढ़ जाता है कि एक दिन विवेक ख्याति की दुर्लभ भूमि में प्रवेश हो कर प्रकृति से सर्वथा भिन्न परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है।

योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। बृह०।

उसको तो तभी तक देर है जब तक दुर्गुणों से पीछा नहीं छुडाता। ज्यों ही मन बुद्धि और इन्द्रियों के दोष दूर हुए फिर तो दर्शन सम्पत्ति से मालामाल हो कृत कृत्य हो जायगा।

जिन परिश्रमी और शिरधड की बाजी लगाने वाले साहसिक सज्जनों ने प्रभुदर्शन किया है उन्हों ने साक्षी दी है कि-ईश्वर का देखना, आंखों से देखने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है और मन बुद्धि की शुद्धि, चक्षु आदि इन्द्रियों की शुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक कष्ट साध्य है। चक्षु आदि इन्द्रियों को नीरोग तथा स्वस्थ बनाने के लिये वर्ष दो वर्ष पर्याप्त हो सकते हैं, परन्तु मन और बुद्धि के दोषों को दूर करने के लिये एक नहीं अनेकों जन्म तक कठिन परिश्रम करते रहने की आवश्यकता है। जैसा कि श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। गीता।

अनेकानेक जन्मों में परिश्रम करते रहने के पश्चात् यथार्थ ज्ञान का प्रकाश होता है और ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

ईश्वर का मानस प्रत्यक्ष करने के लिये जिन २ साधनों और नियमाचरणों की आवश्यकता है तथा परमार्थ मार्ग में जो २ विघ्न बाधायें और प्रतिबन्धक आते हैं उनको हटा कर ठीक दिशा में अभ्यास चालू रखने आदि का विस्पष्ट विवरण, दर्शन शास्त्र, उपनिषत् और गीता आदि वैदिकअध्यात्म शास्त्रों में बहुत ही सुन्दर और आकर्षक ढंग पर किया गया है। जिस किसी भी व्यक्ति को ईश्वर के साक्षात्कार करने की प्रबल इच्छा हो वह आध्यात्मिक नियमों का चिंत

लगा कर पालन करे और पुरुषार्थ करके ईश्वर का साक्षात्कार करले।

यह हम पहिले ही लिख चुके हैं कि ईश्वर का प्रत्यक्ष करना, आंखों से देखने के समान कोई साधारण काम नहीं है। कौन कह सकता है कि मृत्तिका का ढेला उठाने और हीरे को प्राप्त करने में अन्तर नहीं है? सज्जनो, अन्तर है और महान् अन्तर है। मृत्तिका का ढेला सर्वत्र मिल सकता है उसकी पहचान के लिये किसी ज्ञानी के पास जाने की भी आवश्यकता नहीं है इसीलिये मिट्टी का ढेला प्राप्त करना कोई वीरता का काम नहीं है। परन्तु हीरा मोती आदि रत्नों का प्राप्त करना अत्यन्त दुःसाध्य और कठिन कार्य है। अपने नगर में ही देख लीजिये कितने लोग हैं जिनके पास मोती अथवा हीरा है। लाखों लोगों में से किसी एक के पास हीरा होगा, शेष तो हीरे के दर्शन मात्र से भी वंचित होंगे। प्रत्येक व्यक्ति हीरा को प्राप्त भी नहीं कर सकता। सज्जनो, हीरा प्राप्त करना हंसी ठट्ठा नहीं है। हीरा प्राप्त करने के लिये सहस्रों रुपयों की आवश्यकता है। अनेक प्रकार के पुरुषार्थ तथा परिश्रम करने की भी आवश्यकता है और इसके साथ आवश्यकता है हीरे के पहिचान की, जो व्यक्ति निर्धन है, निरुद्यमी और आलसी है तथा पूर्ण अज्ञानी है वह कदापि हीरे को प्राप्त नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहता हो उस के पास इन्द्रिय निग्रह का पुष्कल धन होना आवश्यक है। उसके पास शुद्ध मन और सूक्ष्म बुद्धि का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही यह भी नितान्त आवश्यक है कि उस तत्त्व दर्शन की योग्यता और अदम्य उत्साह हो। इतना कुछ हो तो वह व्यक्ति, परमेश्वर के दर्शन कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिये उपनिषत् में ऋषि ने जिज्ञासु सज्जनों को सावधान करते हुए सचेत किया है। देखिये यमाचार्य नचिकेता को क्या कह रहे हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत क्षुरस्यधारानि शिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ कठोपनिषत।

अर्थात्—उठो, जागो, और सदाचारी महात्माओं की संगति करके यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो। ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बडा कठिन है। छुरे की पैनीधारा पर चलने के समान है—ब्रह्मज्ञानी लोग ऐसा ही

कहते हैं।

जो व्यक्ति हीरे की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है उस को किसी जौहरी के पास जा कर अपना सन्तोष कर लेना चाहिये। इसी प्रकार जो व्यक्ति परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता उसको चाहिये कि सदाचारी महात्माओं का सत्संग करे और शास्त्रीय विधि से यम नियम आदि योगांगों का श्रद्धा से अनुष्ठान करे और इस प्रकार परिश्रम करके परमेश्वर का साक्षात्कार करले।

साधारण लोग इस छुरे की तेज पैनी धारा पर चल नहीं सकते इस लिये ईश्वर की सत्ता से ही इनकार करने लग जाते हैं। वास्तव में दुराचारी और इन्द्रियारामी मिथ्याज्ञानी मूढ लोग ईश्वर को लाख प्रयत्न करने पर भी कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

आचार्य ने अपने प्रिय शिष्य नचिकेता बालयोगी को क्या ही सुन्दर और सत्यता से भरा उपदेश दिया है

> ना विरतो दुश्चरितात् नाशान्तो ना समाहितः
> नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात। कठ उप०।

अर्थात् जो व्यक्ति दुराचार से उपराम नहीं हुआ, जिस ने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया; जिस ने तत्वदर्शी विद्वानों की संगति से लाभ उठा कर अपने संशयों की निवृत्ति नहीं की, जिस के मन में सदा अशान्ति और बुद्धि में भ्रान्ति ने डेरा डाल रखा है-ऐसा व्यक्ति इधर उधर की ज्ञान की बातें जान लेने पर भी परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है।

ईश्वर प्राप्ति की दार्शनिक व्याख्या Philosophical Explanation इतनी विस्तृत और गहन है कि किसी भी सच्चे जिज्ञासु की मानसिक तृप्ति के लिये पर्याप्त से भी कहीं अधिक सिद्ध हो सकती है, हमने यह ईश्वरानुभव विषयक जितना आवश्यक समझा, उतना दिग्दर्शनमात्र वर्णन कर दिया हैं। पूर्वोक्त युक्तियों तथा उपनिषद् वचनों के व्याख्यान करने से हमारा उद्देश केवल इतना ही हैं कि ईश्वर प्राप्ति की वैज्ञानिक पद्धति Scientific Classification के द्वारा प्रत्यक्षवादियों का भ्रम संशोधन कर दिया जावे, जिस से जिज्ञासुओं को ईश्वर के प्रत्यक्ष करने के विषय में आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो सके।

ईश्वर का साक्षात्कार करने वाले सहस्त्रों महात्माओं में से एक प्रत्यक्षदर्शी महानुभाव का अनुभव वर्णन करते हुए महर्षि व्यासजी ने योग भाष्य में लिखा है कि—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत् सुख भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरातदा
स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥ योगभाष्य

अर्थात्—जिस व्यक्ति ने मन के समस्त दोषों का परिमार्जन करके समाधि प्राप्त कर ली है। उक को समाधि में ईश्वर के साक्षात्कार करने से जो अद्भुत आनन्द अनुभव होता है, उस आनन्द को जिह्वा से किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता। वह आनन्द तो स्वयं अपने शुद्ध अन्तःकरण से ही ग्रहण किया जा सकता है।

सच तो यह है कि गूंगा गुड का वर्णन नहीं कर सकता ईश्वर के प्रत्यक्ष का भी ऐसा ही आनन्द है जो दूसरे के वर्णन की वस्तु नहीं किन्तु अपने ही अनुभव करने की वस्तु है आशा है जो सज्जन, ईश्वर की सत्ता को प्रत्यक्ष से बाधित मान कर सन्देहसागर में गो तेखाते रहते हैं उनका इस प्रकार से यथेष्ट समाधान हो गया होगा। यदि कुछ न्यूनता रह गई हो तों एकान्त में शान्त चित्त होकर एक बार फिर इस प्रकारण की आवृत्ति करें। ईश्वर कृपा से अवश्य लाभ होगा।

इति ईश्वर सिध्दौ प्रत्यक्ष बाधोद्धारः।

अथ अनुमान बाधोद्धारः

नास्तिक लोग प्रायः कहा करते हैं कि ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण बाधक हैं। उनका कहना हैं कि जब ईश्वर सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है तो अनुमान प्रमाण कैसे हो सकता है क्योंकि अनुमान के लिये प्रत्यक्ष पूर्वक होना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि न्यायदर्शन में स्पष्ट कहा हैं— 'तत्पूर्वकमनुमानम्'।

हम भी नास्तिकों के इस बाध का उद्धार कर सकते हैं और कह सकते हैं कि जब ईश्वर के होने में मानस प्रत्यक्ष (शुद्ध मन के द्वारा अनुभव करना) प्रमाण विद्यमान है तो अनुमान कैसे बाध कर सकता है। जिस पदार्थ की सत्ता, प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध है उसी पदार्थ का बाध अनुमान के द्वारा कदापि नहीं हो सकता। जैसे कोई कहे कि—"आग ठण्डी हैं, पदार्थ होने से, जो भी पदार्थ होता है वह ठण्डा ही होता है जैसे पानी, अतः आग ठण्डी हैं" तो यह अनुमान अपने पक्ष को सिद्ध नहीं कर सकेगा। विचार किया जावे तो यह अनुमान, प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से आग गरम सिद्ध है। यदि लाखों अनुमान आग को शीतल सिद्ध करने के लिये दिये जावें तो भी आग को शीतल नहीं सिद्ध कर सकेंगे। अकेला प्रत्यक्ष प्रमाण (छूने से पता लगना) आग को गरम सिद्ध करता रहेगा और अनुमान भासरूपी राक्षसों की लंका में महावीर हनुमान के समान बराबर पराक्रम दिखाता रहेगा। इस प्रकार जब ईश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है तो अनुमान कैसे बाधकर सकता है। यह सदा स्मरण रखने की बात है कि लाखों प्रबल अनुमानाभासों के उछल कूद मचाने पर भी योगी प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत ईश्वर सत्ता का खण्डन नहीं किया जा सकता है।

नास्तिक, ईश्वर की सत्ता का निषेध करने के लिये ईश्वर के गुणों और जाति की आड लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता हैं। वह कहता है कि ईश्वर को सर्वज्ञ और जगत् का कर्ता मानने से ईश्वर की सत्ताही असिद्ध हो जाती है। क्योंकि आत्मत्व जाति सभी आत्माओं में है जैसा कि नैयायिक मानते हैं। जब जीव भी आत्मत्व जाति वाले हैं और ईश्वर भी आत्मत्व जाति वाला है तो

जैसे कोई भी जीव सर्वज्ञ और जगत्कर्ता नहीं वैसे ईश्वर भी सर्वज्ञ और जगत्कर्ता नहीं। शंका रूप इस प्रकार है—

शंका—आत्मा और परमात्मा दोनों चेतन हैं। इन सब चेतनों में आत्मत्वजाति मानी जाती है। परन्तु इस विचार से किसी आत्मत्व जाति वाले चेतन ईश्वर का जगत् कर्ता होना सिद्ध नहीं होता। जिस प्रकार मैं चेतन आत्मा हूं और सर्वज्ञ तथा जागत्कर्ता नहीं इसी प्रकार मेरे से भिन्न कोई भी चेतन आत्मा न तो सर्वज्ञ हो सकता है और न ही जगत् का कर्ता। यदि आत्मत्व जाति वाला एक आत्मा (ईश्वर) सर्वज्ञ और जगत् का कर्ता माना जावे तो मुझ में और अन्य असंख्य चेतनों में भी सर्वज्ञता और जगत् कर्तृत्व पाया जाना चाहिये। परन्तु नहीं पाया जाता, अतः ईश्वर न तो सर्वज्ञ है और न ही जगत् का कर्ता।

उत्तर—इष्टसिद्धिः प्रसिद्धेंऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्या सामान्यतः सिद्धिः जातावपि तथैव सा ॥४॥

शब्दार्थ—अंशे—आत्मत्व जाति के किसी एक आत्मा को, प्रसिद्धे—प्रसिद्ध मान लेने पर, इष्टसिद्धिः—'अदृश्य आत्मा है' इस अभीष्टकी सिद्धि होती है, अगोचरे—यदि प्रत्यक्ष आदि से अगोचर अर्थात् असिद्ध मानो तो, हेत्वसिद्धिः—हेतु अर्थात् आत्मत्व की ही सिद्धि नहीं होती, सामान्यतः—यदि जाति सामान्य स्वीकार की जावे तो, अन्य—आत्मत्व जाति वाले किसी व्यक्ति की, सिद्धिः न—सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि, जातौ अपि—आत्मत्व जाति में भी, सा-आश्रयसिद्धि, तथा एव-वैसे ही बनी रहेगी।

व्याख्या—आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जिस को किसी भी इन्द्रिय से जाना नहीं जा सकता। यह आत्मा प्रत्येक शरीर में पृथक २ है इसलिये निस्सन्देह यह आत्मत्व जाति का एक व्यक्ति है। यदि नास्तिक इस जाति को स्वीकार करता है और अपने शरीर में शरीराभिमानी किसी चेतन आत्मा को स्वीकार करता है तो यह सिद्ध वस्तु का ही स्वीकार हुआ। यदि वह आत्मा की सत्ता को नहीं मान-

ता हुआ उसके समान आत्मा (ईश्वर) की सर्वज्ञता और जगत् कर्तृता का खण्डन करना चाहता है तो उस का यह अनुमान आश्रय हीन हो कर हेतु भी आश्रायासिद्ध हुआ क्योंकि जिस आत्मा के समान वह ईश्वर के गुणों का निषेध करता है उस आत्मा की सत्ता को तो वह स्वीकार ही नहीं करता। अतः दोनों प्रकार से नास्तिक का कथन यथार्थ नहीं है। यदि आत्मत्व जाति में ईश्वर का अन्तर्भाव मान कर सर्वज्ञता और जगत् कर्तृता का निषेध किया जावे तो भी सिद्ध साधन और आश्रायासिद्धि से पीछा नहीं छुडाया जा सकता, क्योंकि आत्मत्वजाति वाला होना और बात है, तथा सर्वज्ञ जगत् कर्ता ईश्वर होना और बात है। जिस ईश्वर का निषेध किया जाता है जब वह ही स्वरूप से नहीं है तो उस के गुणधर्मों के निषेध का आधार ही क्या रहा। इस लिये नास्तिक का अनुमान, आश्रयासिद्धि के भयंकर दोष से मुक्त नहीं हो सकता।

शंका—आप लोग, वेद शास्त्र के प्रसिद्ध जिस ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते है हम कहते हैं वह ईश्वर न तो सर्वज्ञ है और नही जगत्कर्ता है।

उत्तर—आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्
आभासत्वेतु सैव स्यादाश्रया सिद्धिरुद्धता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—आगमादेः—वेद शास्त्र आदि के, प्रमाणत्वे—प्रमाण मानने पर, बाधनात्-नास्तिक की प्रतिज्ञा का बाध होता है इसलिये, अनिषेधनम्—ईश्वर की सत्ता या उसकी सर्वज्ञता तथा जगत् कर्तृता का निषेध नहीं हो सकता। आभासत्वेतु—यदि वेद शास्त्र आदि को प्रमाण न माना जावे तो फिर, सा एव-वही, आश्रयासिद्धि आश्रयासिद्धि, उध्द्ता-प्रबल प्रयत्न करने पर भी हटाई नहीं जा सकेगी।

व्याख्या—वेद शास्त्र आदि धर्मग्रन्थों में ईश्वर और ईश्वर के सर्वज्ञ जगत्कर्ता होने का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है यदि कोई व्यक्ति धर्मग्रन्थों के किसी वाक्य अथवा वाक्यांश का निर्देश करके ईश्वर का निषेध करना चाहता है तो उससे पूछा जाना चाहिये कि आप इन धर्मग्रन्थों को प्रमाण मान कर बोलते हैं या अप्रमाण मानकर।

यदि कहा जावे कि प्रम.ण मान कर! तो उसका ऐसा कहना सर्वथा हास्य जनक है क्योंकि जो वेद स्वयम् ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण हैं उनके द्वारा ईश्वर का असद्भाव सिद्ध नहीं होता किन्तु वाधित होता है। जैसा कि अग्नि को शीतल और अन्धियारी कहने से अग्नि की उष्णता तथा प्रकाश शीलता का खण्डन नहीं होता अपितु हस्त आदि के स्पर्श द्वारा अग्नि की उष्णता ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार वेद आदि शास्त्रों के वाक्यों के प्रमाणों से ईश्वर क अस्तित्व तथा जगत् कर्तृत्व और सर्वज्ञत्व आदि ही सिद्ध होता है।

यदि वेद वाक्यों को प्रमाण न माना जावे तो नास्तिक के लिये ईश्वर के विषय में कोई पक्ष रख कर प्रतिज्ञा करना कठिन हो जावेगा क्योंकि ईश्वर के न होने आदि की जो भी प्रतिज्ञा की जावेगी उसमें ईश्वर की सत्ता को न मानना ही मुख्य रहेगा। ऐसी दशा में आश्रय (ईश्वर) के न होने के कारण आश्रयासिद्धि के प्रवल प्रहार से वचना सर्वथा असम्भव है।

शंका—अनुपलब्धि के वियष में योग्य अयोग्य का विशेषण न लगा कर इतना कहना ही उचित होगा कि-अनुपलब्धि के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। इससे न अनुमान की आवश्यकता होगी और न आश्रयासिद्धि का दोष लगेगा, संसार के व्यवहार के लिये प्रत्यक्ष-मात्र से काम चल जायगा—जिस के होने में प्रत्यक्ष प्रमाण है वह वस्तु है जिस के होने में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है वह नहीं है। जहां धूमादि को देख कर अग्नि आदि का अनुमान करना पडता है वहां सन्देह मात्र से कार्य सिद्धि हो सकती है।

उत्तर—दृष्टयदृष्टयोः क सन्देहः भावाभावविनिश्चयात्
अदृष्टिवाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥६॥

शब्दार्थ—दृष्टयदृष्टयोः—उपलब्धि और अनुपलब्धि के द्वारा, भावाभावविनिश्चयात्—वस्तु का होना अथवा न होना निश्चय होता है इसलिये, सन्देहः क—सन्देह का अवकाश कहां? हेतौ—हेतु के, अदृष्टि वाधिते—अनुपलब्धि से वाधित हो जाने पर, प्रत्यक्षमपि—प्रत्यक्ष प्रमाण भी, दुर्लभम्—असम्भव हो जावेगा।

व्याख्या—संसार का व्यवहार केवल प्रत्यक्ष के बल पर नहीं चलता किन्तु अनुमान की भी आवश्यकता रहती है। सम्भावना, या सन्देह का सहारा लेकर अनुमान का निरादर भी नहीं किया जा सकता। वस्तु मात्र के विषय में या तो उसके होने का अथवा न होने का अनुमान होता है दोनों दशाओं में सन्देह के लिये किञ्चिन्मात्र भी अवकाश नहीं है क्योंकि वस्तु की उपलब्धि से उसके होने का निश्चय होता है और उपलब्धि से उसके न होने का निश्चय होता हैं तथा निश्चय होते ही संसार का व्यवहार चलता है, जो वस्तु जिस योग्य होती है उससे वही कार्य लिया जाता हैं और जिस योग्य नहीं होती उससे वह कार्य नहीं लिया जाता। यदि संसार के व्यवहार,सम्भावना या सन्देह मात्र से सिद्ध हो सकते तो निश्चय की क्या आवश्यकता रहती ? परन्तु नहीं, संसार को निश्चय की आवश्यकता है और निश्चय के विना संसार का कोई भी व्यवहार सिद्ध नहीं होता। इसलिये न तो उपलब्धि में ही सन्देह हो सकता है और न ही अनुपलब्धि में।

उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि का साधन चक्षु आदि इन्द्रियें ही हैं। इन्द्रियों के द्वारा ही वस्तु के होने या न होने का निश्चय होता है। परन्तु इन्द्रियों और इन्द्रियों के अधिष्ठान–गोलकों में बडा अन्तर है। गोलक इन्द्रियें नहीं किन्तु इन्द्रियों के रहने के स्थान हैं। आंखों के तारा मण्डल में रह कर चक्षु इन्द्रिय, देखने का कार्य करती है। नासा पुट में रह कर घ्राण इन्द्रिय सूंघने का कार्य करती हैं। सर्व साधारण को गोलक ही प्रतीत होते हैं उनके अन्दर कार्य कारी इन्द्रियों की प्रतीति नहीं होती। यदि गोलकों द्वारा प्रतीत होना ही प्रत्यक्ष हैं तो इन्द्रियों के प्रत्यक्ष न होने के कारण उनसे प्रतीत होने वाली कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष न हो सकेगी। इस प्रकार विचार करने से प्रत्यक्ष का ही उच्छेद हो जाता है। तब तो प्रत्यक्षवादी चारवाक को घर से बाहर जाने पर पुत्रदारादि के उपलब्ध न होने के कारण छाती पीट कर रोना होगा। और पुनः लौटने पर कुटुम्ब को न पाकर शोक से व्याकुल होना पडेगा। इसलिये केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही उपलब्धि या अनुपलब्धि का हेतु नहीं है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि योग्य अनुपलब्धि ही अभाव ग्राहक हो सकती है अयोग्यानुपलब्धि नहीं। और आयोग्यानुपब्धि द्वारा जो वायु आदि

पदार्थों की सत्ता का ज्ञान होता है उस का कारण अनुमान ही होता है। अतः प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण को भी स्वीकार करना परम आवश्यक है।

शंका—यदि अनुपलब्धि मात्र को अभाव का साधक न मान कर योग्यानुपलब्धि को ही अभाव साधक माना जावे तो अयोग्योपाधि की शंका से धूम आदि में नियम का व्यभिचार पाया जावेगा। तब व्यक्ति का निश्चय न हो सकने से अनुमान भी नहीं हो सकेगा। अतः प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

उत्तर—शंका चेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्
व्याघाताऽवधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः ॥६॥

शब्दार्थ—शंकाचेत्—यदि शंका है तो इस शंका पर विचार करने से, अनुमा—अनुमान प्रमाण, अस्ति एव—सिद्ध ही है। चेत शंका नः यदि शंका ही नहीं हैं तो, ततस्तराम्—और भी अच्छी बात हैं अर्थात् उससे भी अनुमान प्रमाण अच्छी प्रकार से सिद्ध ही है क्योंकि, शंकावधिः—शंका का निवृत्त करने वाला, तर्कः—तर्क अर्थात् विपक्ष-बाधक प्रमाण, मतः—स्वीकार किया गया है। आशंका—और तर्क में भी यदि शंका हो तो, व्याघातावधिः—वह शंका भी नहीं रह सकती क्योंकि उसकी निवृत्ति व्याघात से हो जाती है।

व्याख्या—पाकशाला में भोजन के समय नित्य प्रति धूम और अग्नि का साहचर्य देखने से निश्चय होता है कि जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि अवश्य होता है। इसी व्याप्ति के बल पर किसी भी स्थान पर किसी भी समय अग्नि का निश्चय किया जाता है। परिचित स्थान और काल को छोड किसी दूसरे देश काल मे धूम को देखकर स्वभावतः शंका होती है कि वहां भी अग्नि है या नहीं। वहां भी अपने परिचित देश काल के व्याप्तिज्ञान की स्मृति के उदय होने से यही निश्चय होता है कि वहां भी अग्नि अवश्य है क्योंकि वहां धूम प्रतीत होता हैं और जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य है हमने अनेक बार पाकशाला आदि स्थानों में भोजन आदि के समय धूम

और अग्नि का साहचर्य नियम देखा है। इसलिये हम कह सकते हैं कि जब विना अग्नि के धूम नहीं हो सकता तो वहां भी धूम के पाये जाने से वहां भी अग्नि अवश्य है। इस प्रकार यदि धूम और अग्नि के विषय में व्यभिचार शंका उत्पन्न हो तो उससे अनुमान की सिद्धि ही होती है।

यदि व्यभिचार शंका नहीं हैं तब तो और भी निष्कण्टक मार्ग हैं। जहां भी धूम को देखा, वहां ही तत्काल धूम और अग्नि के सहाचर्य की स्मृति हुई और उसी समय अनुमान के बल पर निश्चय कर लिया कि वहां भी अग्नि है। इस प्रकार व्यभिचार शंका के उठाये विना ही अपने आप व्याप्तिज्ञान के सहारे अनुमान हो जाता है। अतः इससे भी अनुमान प्रमाण की सिद्धि हुई।

अनुमान की सिद्धि में नियम यह है कि-जिस घटना को हमने प्रत्यक्ष से देखा है और उसको देख कर निश्चय कर लिया है कि ऐसी परिस्थिति में ऐसी घटना होती हैं तो वैसी ही घटना को किसी दूसरे देश में अथवा दूसरे ही समय में घटते देख कर व्याप्तिज्ञान का उदय होता हैं और व्याप्तिज्ञान के होने पर यदि शंका होती हैं तो उसकी निवृत्ति हो जाती है। यदि शंका नहीं होती तो तत्काल निश्चय हो जाता है कि बात ऐसी है। जैसा कि धूम को देखते ही अपने आप निश्चय हो जाता हैं कि जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि अवश्य होता है क्योंकि अग्नि के विना धूम उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यदि किसी विशेष कारण से व्यभिचार शंका होती है तो उस की स्थिति तभी तक है जब तक विपक्ष का बाध करने वाला तर्क उदय नहीं होता। ज्योंही कोई प्रबल युक्ति सामने आई त्यों ही व्यभिचार शंका का लोप हो कर व्याप्तिज्ञान का निश्चय हो जाता है और उसके पश्चात् अनुमान से सच्चा निर्णय हो जाता हैं। जैसे कि-यदि धूम विना अग्नि के होता तो अग्नि से उत्पन्न नहीं होता किन्तु पानी से उत्पन्न होता। परन्तु पानी से उत्पन्न न हो कर अग्नि से ही उत्पन्न होता हैं इसलिये पानी और धूम का कोई साहचर्य नियम नहीं हैं-अपितु अग्नि और धूम का ही साहचर्य है। इस तर्क के उदय होते ही विपक्ष का बाध हो जाता है और शंका की अवधि समाप्त हो कर यथार्थ निर्णय हो जाता हैं।

यदि कहा जावे कि शंका की निवृत्ति तर्क से हो जाने पर फिर भी कोई और शंका हो कर व्यभिचार शंका की परिपुष्टि हो सकती है और यदि उसकी निवृत्ति करो तो और शंका उठाई जा सकती है इस प्रकार तर्क से शंका का समाधान न हो कर अनवस्था उपस्थित होगी। ऐसा विचार करना उचित नहीं क्योंकि शंका का उपसंहार व्याघात से ही हो जाता है। अविनाभाव या साहचार्य के विषय में व्यभिचार शंका तभी तक रह सकती है जब तक कि उसका व्याघात न हो। व्याघात होते ही जैसे मृतक शरीर में पुनः प्राण नहीं आते वैसे ही व्यभिचार शंका में जीवन नहीं आ सकता। यदि विपक्ष में बाधक हेतु का शतांश भी पाया जावे तो उसके प्रताप से विपक्ष के पक्ष छिन्न भिन्न हो जाते हैं तथा उनमें अपने साध्य को सिद्ध करने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है।

अतः सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी है और वह ईश्वर की सिद्धि के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकता अपितु ईश्वर सिद्धि का परम साधक तथा सहायक है जैसा कि पञ्चम स्तवक में विस्तार पूर्वक लिखा जायगा।

इति ईश्वर सिद्धौ अनुमान बाधोद्धारः

अथ उपमान बाधोद्धारः

प्रत्यक्ष और अनुमान से अतिरिक्त उपमान भी एक प्रमाण है जिस के द्वारा दो पदार्थों का सादृश्य देख कर समानता के आधार पर ज्ञान होता है। यथा गाय के सदृश नील गाय का ज्ञान। देवदत्त ने पूछा—नील गाय कैसी होती है, उस को कैसे पहिचाना जावे। यज्ञदत्त ने उत्तर दिया कि वन में जाओ यदि वहां किसी पशु को ग्राम की गौ के समान आकार प्रकार वाला देखे तो समझ लेना वही नील गाय है। यह सुनकर देवदत्त वन को गया और उसने वन में एक ऐसा पशु देखा जो आकार प्रकार में गौ के सदृश था उसने उस पशु को देख कर निश्चय किया कि यह नील गाय है। यह जो नील गाय का ज्ञान हुआ—यह न तो प्रत्यक्ष है और न ही अनुमान है। प्रत्यक्ष इस लिये नहीं कि केवल दृष्टिपात से यह ज्ञान नहीं हुआ किन्तु दृष्टि के पश्चात् सादृश्य ज्ञान हो कर ही 'यह नील गाय है'—यह ज्ञान हुआ, और अनुमान इस लिये नहीं कि अनुमान में व्यक्तिज्ञान के विना काम नहीं चल सकता परन्तु नीलगाय के ज्ञान में किसी व्यप्तिज्ञान की आवश्यकता नहीं पडती—केवल सादृश्य ज्ञान ही अपेक्षित होता है।

नास्तिक लोग अपने पक्ष कीसिद्धि के लिये उपमान प्रमाण को भी उपास्थित करते हैं कि उपमान प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः अव यह विचार किया जाता है कि उपमान प्रमाण भी ईश्वर सिद्धि के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकता।

उपमान प्रमाण में सादृश्य ज्ञान का वडा महत्व पूर्ण स्थान है। और सच तो यह है कि सादृश्य के विना उपमान का कोई मूल्य ही नहीं रहता। इस सादृश्य के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें हैं। कुछ लोग मीमांसकों के समान सादृश्य को द्रव्यादि से अतिरिक्त आठवां पदार्थ मानते हैं परन्तु यह मानना ठीक नहीं है क्योंकि सात पदार्थों के अन्दर ही सादृश्य का समावेश हो जाता है और उन से पृथक सादृश्य की सत्ता सिद्ध नहीं होती। जो लोग सादृश्य को आठवां पदार्थ मानते हैं उन को विचार करना चाहि ये कि—

परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः
नैकता पि विरुध्दाना मुक्तिमात्रविरोधतः ॥७॥

शब्दार्थ परस्परविरोधे हि—भाव और अभाव के परस्पर विरुद्ध होने के कारण, प्रकारान्तरस्थितिः—सादृश्य को भाव और अभाव से अतिरिक्त किसी और प्रकार का मानना, न युतियुक्त नहीं है। विरुद्धानाम्—परस्परविरोधियों के, उक्तिमात्रविरोधः-वचनमात्रा से ही विरोध पाये जाने के कारण, एकता अदिन—सादृश्य को भावाभावात्मक रूप एक पदार्थ मानना भी ठीक नहीं है।

व्याख्या—संसार के पदार्थों का विभाग दो प्रकार का हो सकता है-भाव या अभाव। सादृश्य भी एक तत्व है अतः उसे भी दोनों प्रकारों में से एक अवश्य होना चाहिये। इसलिये वह या तो भावरूप होगा या अभावरूप। यदि भाव रूप है तो उस में गुण है या नहीं। यदि उसमें कोई गुण है तो निश्चय से वह द्रव्य होगा क्योंकि जिस में गुण होता है वह निश्चय से पृथियवादि के समान द्रव्य होता है। और यदि सादृश्य में कोई गुण नहीं है तो वह द्रव्य नहीं है किन्तु द्रव्यश्रित कोई गुण विशेष है। यदि गुण नहीं तो कर्म होगा। यदि कर्म नहीं तो सामान्य होगा और यदि सामान्य भी नहीं तो समवाय सम्बन्ध होगा। यदि वह भी नहीं और फिर भी भाव पदार्थ है तो यह सर्वथा असम्भव है।

यदि कहो भाव रूप नहीं अपितु अभाव रूप ही तो ऐसा मानने से भी साता पदार्थों के बाहिर नहीं जा सकते क्योंकि सातवां पदार्थ अभाव है। अतः यदि सादृश्य को मानना है तो उसे भाव या अभाव दोनों में से एक अवश्य मानना होगा। एक इसलिये कि जो भाव होता है वह अभाव नहीं हुआ करता और जो अभावरूप होता है वह भाव नहीं होता क्योंकि भाव और अभाव दोनों वैसे ही परस्पर-विरोधी हैं जैसे कि प्रकाश और अन्धकार। इसीलिये यह भी नहीं कह सकते कि सादृश्य, भाव और अभाव दोनों है क्योंकि भावाभाव-त्मक-अर्थात् भावरूप भी है और अभावरूप भी हैं-ऐसा कहना वद तो व्याघात है। इस प्रकार सादृश्य को भावाभाव की उभय कोटि से व्यतिरिक्त नहीं माना जा सकता।

शंका—यदि साधर्म्य को ही सादृश्य मान लिया जावे तो क्या होता है ?

उत्तर—साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम् ॥९॥

शब्दार्थ—एवम्—इस प्रकार साधर्म्य को सादृश्य मानने पर, साधर्म्यम् इव-साधर्म्य के समान, वैधर्म्यम्-वैधर्म्य भी मानम्-प्रमाण, प्रसज्यते—मानना होगा, यदि कहा जावे कि, असौ—वह वैधर्म्य तो, अर्थापत्ति :—अर्थापत्ति, व्यक्तम्—स्पष्ट है, तो, प्रकृतम्—साधर्म्य को भी अर्थापत्ति किम् न—क्यों नहीं मान लेते।

व्याख्या—तुलनात्मक ज्ञान के दो रूप हो सकते हैं साधर्म्य और वैधर्म्य, गौ और गवय (नी लगाय) में आकृति की समानता है। इस समानता के बल पर ही वन्यपशु को नीलगाय के रूप में जाना जा सकता है। वैधर्म्य-अर्थात् वह धर्म या गुण जो एक में हो और दूसरे में न हो—इस के द्वारा भी नीलगाय को जाना जा सकता है, हम कह सकते हैं कि जो पशु गौ जैसी आकृति का नहीं है वह नीलगाय नहीं है जैसे शृगाल, मृग और शश आदि-शृगालादि के सादृश्य का नीलगाय में न पाया जाना-यही वैधर्म्य है।

पदार्थों के तत्वज्ञान के लिये जितना सादृश्य ज्ञान उपयोगी है उतना ही वैधर्म्यज्ञान भी उपयोगी है, यदि उपमान प्रमाण से साधर्म्य ज्ञान का ग्रहण होता है तो वैधर्म्य ज्ञान का ग्राहक भी उपमान को ही मानना पड़ेगा। यदि कहो कि वैधर्म्य के ज्ञान के लिये अर्थापत्ति नाम का एक पृथक प्रमाण है तो सादृश्य ज्ञान का ग्राहक भी उसी को क्यों नहीं मान लेते क्योंकि दोनों तुलनात्मक ज्ञान के ही स्वरूप हैं।

बात यह है कि साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान यदि उपमान से माने जायें तो अर्थापत्ति को पृथक प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, और यदि वैधर्म्यज्ञान के लिये अर्थापत्ति को स्वीकार किया जावे तो साधर्म्य ज्ञान का ग्राहक भी अर्थापत्ति ही सिद्ध होगा। ऐसी दशा में उपमान प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। मीमांसकआदि विचारकों की भ्रान्ति यही है कि वे तुलनात्मक ज्ञान का कारण केवल सादृश्य अथवा साधर्म्य को ही मानते हैं और उसके

लिये उपमान को प्रमाण मानते हैं। जब तुलनात्मक ज्ञान का दूसरा भाग आता है तो अर्थापत्ति को मान लेते हैं। इस भूल का संशोधन करने के लिये ही अर्थापत्ति हटाने को कहा गया है।

वास्तव में उपमान प्रमाण का विषय समझने के लिये इतना जान लेना आवश्यक है कि—

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह
प्रत्याक्षादेरसाध्यात्वदुपमानफलं विदुः ॥१०॥

शब्दार्थ सं—ज्ञायाः—संज्ञा का, संज्ञिनासह—संज्ञा वाले के साथ सम्बन्धस्य—सम्बन्धका; परिच्छेदः—निश्चय, प्रत्यक्षादेः—प्रत्यक्षआदि प्रमाणों के द्वारा, असाध्यत्वात्—सिद्ध न हो सकने के कारण उपमान फलम—उपमान का फल, विदुः—जानते हैं।

व्याख्या—अमुक प्रकार की आकृति वाले पशु को नील गाय कहते हैं, जब कोई व्यक्ति गौ के समान आकार प्रकार वाले पशु को वन में देखता है तो उसको निश्चय होता है कि इसी पशु का नाम नील गाय है संज्ञा का संज्ञा वाले पशु के साथ निश्चय होना यही उपमान का फल हैं इस प्रकार का निश्चय ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से प्राप्त होता हैं और न ही अनुमान से। यही उपमान प्रमाण की विशेषता है यह विशेषता न प्रत्यक्ष में है और न अनुमान तथा शब्द प्रमाण में है प्रत्यक्ष में चक्षुरिन्द्रिय का बाह्य अर्थ (पशु) से सन्निकर्ष होकर यह ज्ञान होता हैं कि यह पदार्थ हैं यह नहीं होता कि यदि अमुक आकृति वाला है तो उसका अमुक नाम है अनुमान में धूप को देख कर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान व्याप्ति ज्ञान द्वाराहोता है जहां धूम होता हैं वहां अग्नि अवश्य होती है इस लिये वहां भी अग्नि है अतः संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध का निश्चय न तो प्रत्यक्ष से होता है और न ही अनुमान तथा शब्द से। इसी लिये जो कार्य प्रत्यक्ष और अनुमान तथा शब्द से सिद्ध नहीं होता उस की सिद्धि उपमान से होती है यही उपमान प्रमाण का फल है वन में अनेकों पशुओं को देख कर सोचता है कि क्या इस पशु का नाम नील गाय है? क्या इसका है? क्या उसका नाम नील गाय है ? नहीं! नहीं तो फिर किस का नाम

नील गाय है, जिस की गाय के समान आकृति है उसी का नाम नील गाय है इस पशु की आकृति गौ के समान दिखाई देती है इस लिये यही नील गाय है इस प्रकार उपमान प्रमाण का क्षेत्र प्रत्यक्ष और अनुमान आदि से सर्वथा भिन्न है।

शंका- अतिदेश वाक्य से अथवा अनुमान से भी यह ज्ञात होसकता है अतः उपमान प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है—।

उत्तर— सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा॥११॥

शब्दार्थ-सादृश्यस्य-सादृश्यके अनिमित्तत्वात्-निमित्त न होने के कारण तथा, निमित्तस्य-निमित्त के, अप्रतीतितः-प्रतीत न होने के कारण, शब्देन—अतिदेश वाक्य से, अनुमया अपि वा-अथवा अनुमान से भी, समयः—निश्चित ज्ञान, पूर्वम्-अतिदेश और अनुमान से पहिले, दुर्ग्रह :—सर्वथा ग्रहण नहीं होता।

व्याख्या—संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध का निश्चय अतिदेश वाक्य या अनुमान से नहीं होता और नही केवल सादृश्य के जान लेने से उस विषय की जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है, अपनी आंखों से उस पशु को अच्छी प्रकार देखना और देखकर अतिदेश वाक्य का स्मरण करना और उनके पश्चात् गौ की आकृति से उस पशु की आकृति की तुलना करना—इतना कुछ हो चुकने के पश्चात् "इस पशु का नाम नीलगाय है"—यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान में सादृश्य ही निमित्त नहीं है और न ही सादृश्य के निमित्त से नीलगाय की प्रतीति अर्थात् यथार्थ ज्ञान होता है, जो गौ के सदृश होती है वह नीलगाय होती है—इस अनुमान के द्वारा तो उपमान का कार्य किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि श्रोता को नीलगाय के स्वरूप के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है और विना गौ के सदृश आकृति वाले पशु को देखे उसका निश्चयात्मक ज्ञान भी व्याप्तिज्ञान का रूप धारण नहीं कर सकता और व्याप्ति ज्ञान के विना अनुमान का कोई मूल्य ही नहीं हुआ करता।

इस प्रकार न तो अति देश वाक्य और न ही अनुमान-उपमान प्रमाण का काम कर सकते हैं, उपमान का क्षेत्र इन के क्षेत्र से सर्वथा

पृथक हैं।

शंका—नीलगाय के प्रत्यक्ष होते ही "गौ सदृश आकृति वाले पशुका नाम नीलगाय होता है" इस अतिदेश वाक्यसे लक्षण द्वारा सम्बन्ध ज्ञान हो सकता है, अतः उपमान को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति
पदार्थान्वय वैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन संगतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—श्रुतान्वयात्-सुने हुए पदार्थ में अन्वय के पाये जाने से, अन्यत्-किसी दूसरे, अनाकांक्षम्-आकांक्षा रहित, वाक्यम्-वाक्य की, इच्छति-इच्छा करता है, पदार्थान्वय वैधुर्यात्-परन्तु पदार्थों के अन्वय के अयोग्य होनेसे, तदाक्षिप्तेन-लक्षण द्वारा आक्षिप्त अर्थ से संगतिः-संगति होती है।

व्याख्या—उपमान और लक्षण में यह भेद भुलाया नहीं जा सकता कि उपमान में जो पद प्रयुक्त किये जाते हैं उन का अपने अर्थों के साथ अन्वय पाया जाता है अर्थात् उन की संगति करने के लिये किसी दूसरे वाक्य की आकांक्षा नहीं उठती, परन्तु लक्षण में यह बात नहीं है, इस में पदार्थ ही अन्वय के योग्य नहीं होते इसलिये उन की परस्पर संगति करने के लिये आकांक्षा उठती है, आकांक्षा, के पश्चात् वाक्य का ऐसा अर्थ करना पडता है जो उस के पदों में नहीं होता।

उदाहरण के लिये 'गंगायां घोषः' पर विचार कीजिये। 'गंगायां घोषः' का अर्थ है-गंगा में झोंपड़ी। गंगा एक नदी है और नदी रूप प्रवाह में फूस के झोंपड़े का स्थिर रहना सर्वथा असम्भव है, इस लिये गंगा में, झोंपड़ी-इन तीन पदों की अपने अर्थ के साथ संगति न पाये जाने से यह आकांक्षा उत्पन्न होती है कि वक्ता का तात्पर्य क्या है। उसने किस उद्देश से ऐसा कहा? यह तो हो नहीं सकता कि नदी के प्रवाह में झोंपड़ी हो। हां, यह हो सकता है कि नदी के किनारे की भूमि पर कहीं झोंपडी खडी हो। ऐसी दशा में यह जानना होगा कि 'गंगामें' का अर्थ 'गंगा नदी के प्रवाह में' नहीं किन्तु 'गंगा के किनारे की भूमि पर' ही है क्यों कि झोंपडी को धारण किये रहने

की योग्यता भूमि में ही है-प्रवाह में नहीं। इस प्रकार आकांक्षा द्वारा लक्षण से किया गया अर्थ ही पदों की परस्पर संगति करता है।

उपमान में ऐसी कोई बात नहीं है। उस में न तो कोई आकांक्षा उठती है और न ही पदों को छोडकर कुछ और ही अर्थ करना पडता है अपितु पदों के अर्थों की परस्पर संगति स्पष्ट रहती है, "जो गौ के सदृस पशु होता है उसी का नाम नील गाय है जब ऐसे पशु को देखो तो जान लेना कि वही नीलगाय है'-इस वाक्य में पदों की अपने मुख्य अर्थ के साथ बराबर संगति है इसलिये आकांक्षा नहीं उठती और आकांक्षा के न होने से लक्षणा कैसी?

अतः यह सिद्ध हुआ कि उपमान प्रमाण की उपयोगिता है और उस का कार्य न तो प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होता है और नही शब्द से।

ईश्वर की सिद्धि में बाधा डालने के लिये यदि कोई नास्तिक इस उपमान प्रमाण का सहारा लेना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि उपमान और उपमेय के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान तथा व्यवहार, भाव पदार्थों में हुआ करता है अभावों में नहीं। विचार किया जावे तो उपमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि में ही सहायता मिलती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि ईश्वर की सिद्धि में उपमान प्रमाण बाधक नहीं है।

इति उपमानबाधोद्धारः।

अथ शब्द बाधोद्धारः

शंका—प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान से अतिरिक्त शब्द भी प्रमाण है जिस के द्वारा हम को ज्ञान की प्राप्ति होती है और हमारे सांसारिक तथा पारमार्थिक व्यवहार सिद्ध होते हैं। शब्द प्रमाण से वेद, शास्त्र, उपनिषत् और आप्त पुरुषों के वचन का ही ग्रहण किया जाता है। ईश्वर के प्रतिपादन और गुण वर्णन में शब्द प्रमाण का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। इस पर भी कई लोग ईश्वर की सिद्धि में शब्द प्रमाण की बाधा उपस्थित किया करते हैं। उनके कथन का मुख्य तात्पर्य यह होता है कि अनुमान से अतिरिक्त शब्द प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण शब्द में भी पाये जाते हैं अतः शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत हैं।

उत्तर—अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निश्चयः
आकांक्षासत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरवन्धना ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—परिच्छेद—यदि पदों का अर्थोंसे सम्बन्ध निश्चित है तो, अनैकान्तः—अनुमान में अनैकान्त हेत्वाभास है, सम्भवेच—और यदि कहा जावे कि पदों और अर्थों का सम्बन्ध सम्भव हो सकता है तो, न निश्चयः—यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। आकांक्षा सत्तया—केवल आकांक्षा की सत्ता मात्र से, हेतुः—हेतु का विशेषण देकर अनुमान नहीं कर सकते। योग्यासत्तिः—और योग्यताके साथ आसत्ति भी, अवन्धना—व्याप्तिज्ञान रूप निश्चय से शून्य ही है।

व्याख्या—जो लोग शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत मान कर यह कहते हैं कि शब्द प्रमाण को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है, वे लोग अपने पक्ष की सिद्धि के लिये जो अनुमान देते हैं उस पर विचार किया जावे तो यह मानना आवश्यक होगा कि-पदों और अर्थों का परस्पर सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है अथवा किसी व्यक्ति ने निश्चय कर रखा है। स्वतः सिद्धि तो कह नहीं सकते

क्यों कि ऐसा मानने पर एक पद का वही अर्थ निश्चित रहनेसे दूसरा अर्थ नहीं हो सकेगा। परन्तु देखने सुनने में इसके विपरीत हैं और एक २ पद के अनेक अर्थ हो जाते हैं। दूसरे यह कि विना किसी आप्त पुरुषके निश्चित किये किसी पद का निश्चित अर्थ के साथ सम्बन्ध कैसे हो गया? वही सम्बन्ध दूसरे पद के साथ क्यों नहीं हो गया। यदि होना चाहता था तो किस ने रोक दिया। अतः स्वतः सिद्धसंसर्ग तो सम्भव नहीं है अपितु किसी न किसी अनुभवी व्यक्ति ने ही निश्चित किया हैं कि अमुक पद से अमुक अर्थ का ही ज्ञान हो अथवा अमुक अर्थ के लिये अमुक पद का ही प्रयोग किया जावे।

यदि पदार्थोंके सम्बन्धों को निश्चित माना जावे या उनके निश्चित होने की सिद्धि की जावे तो इस साध्य की सिद्धि के लिये कोई हेतु देना होगा क्योंकि विना हेतु के किसी भी साध्य की प्रतिज्ञा मात्र से सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहा जावे कि पक्ष की सिद्धि के लिये-'आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति वाले पदों से स्मारित होने से' यह हेतु दिया जावे तो यह हेतु नहीं किन्तु हेत्वाभास है। इस मिथ्यायुक्ति से यह निश्चित नहीं होता कि अमुक पद का अमुक अर्थ से सम्बन्ध निश्चित है।

यदि कहा जावे कि सम्बन्ध सम्भव है तो यह उभय कोटि होने से निर्णयात्मक नहीं हुआ जिस हेतु से निर्णय न हो सके और सम्भावना मात्र की सिद्धि की जाये वह हेतु नहीं कहा जा सकता।

यदि कहा जावे कि आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के साथ अनुमान में सहायता दे सकती हैं तो यह भी उचित नहीं क्यों कि इस प्रकार मानने से व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकेगा जो कि अनुमान के लिये परमावश्यक है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि शब्द प्रमाण की आवश्यकता अनुमान प्रमाण से पूर्ण नहीं हो सकती। इसी लिये अनुमान से अतिरिक्त शब्द को प्रमाण मानना चाहिये।

शंका—लौकिक वाक्यों के प्रामाण्यके लिये उन का आप्तोक्त होना आवश्यक है परन्तु वैदिक वाक्यों के प्रामाण्यके लिये उनका आप्तोक्त होना आवश्यक नहीं क्यों कि वेद अपौरुषेय हैं- वेद के कर्ता

का आज तक किसी ने वर्णन नहीं किया।

उत्तर—निर्णीतशक्तेः वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिंगस्यैवानुवादिता ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—निर्णीतशक्तेः वाक्यात्—वाक्य के पदों की शक्ति के ज्ञान से, प्राक् एव-पहिले ही, अर्थस्यनिर्णये-अर्थ का ज्ञान हो चुकने के कारण, व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन-व्याप्तिस्मृति की अपेक्षा होनेसे अनुमान के द्वारा, लिंगस्य एव-लिंग को ही, अनुवादिता- अनुवादरूपता सिद्ध होती है शब्द को नहीं।

व्याख्या—शब्दों पदों तथा वाक्यों की रचना और सामग्री जैसी लोक में है वैसी ही वेद में भी है। रचना का आकार प्रकार तथा नियम भी एक दोनों में समानतया एक जैसे ही है। अतः जो नियम लौकिक कृत्तियों पर लागू होते हैं वे सभी नियम वेद पर भी लागू होने चाहियें। यह नहीं हो सकता कि लौकिक वाक्यों का तो कोई कर्ता आप्त पुरुष मान लिया जावे और वेद के वाक्यों का कोई कर्ता आप्त पुरुष स्वीकार न किया जावे।

यदि लौकिक वाक्यों में आकांक्षा, आसत्ति और योग्यता को देखकर व्याप्ति ज्ञान के द्वारा किसी आप्त पुरुष के कर्तृत्व का अनुमान किया जाता है तो ऐसा ही अनुमान वैदिक वाक्यों के विषय में आप्त कर्ता का भी करना चाहिये।

प्राभाकर मतानुयायी मीमांसकों का कहना है कि लौकिक ग्रन्थों के रचयिता का ज्ञान अनुमान से हो जाता हैं अतः व्याप्ति ज्ञान की अपेक्षा होने से लौकिक आप्त वाक्य शब्द प्रमाण नहीं-किन्तु अनुमान के ही अन्तर्गत हैं। अतः लौकिक वाक्यों को देख सुन कर किसी आप्त वक्ता को अवश्य मानना पडता है। परन्तु वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष की रचना नहीं हैं अतः उनके वाक्यों का प्रमाण शब्द प्रमाण कहलाता है और इसी लिये वेद के वाक्यों का ज्ञान लौकिक वाक्यों से भिन्न हैं और भिन्न प्रकारसे होता हैं। भला यह कैसे मान लिया जावे कि पौरुषेय कृति-लौकिक वाक्य और अपौरुषेय शब्द एक ही नियम में सम्बद्ध हैं। कहां अनुमान का कार्यक्षेत्र और कहां शब्दप्रमाण का विषय ?

यह तो ठीक है कि अनुमान और शब्द के कार्यक्षेत्र पृथक् २ हैं परन्तु यह कहां का नियम है कि लौकिक वाक्यों का तो कर्ता मान लिया जावे और वेद के वाक्यों का कोई कर्ता ही न माना जावे। इस की विशेष व्याख्या पांचवें स्तवक में विस्तारपूर्वक की जायगी-वहीं देखने की कृपा करें।

"जो लोग यह कहते हैं कि वेद के कर्ता का आज तक किसी ने नाम निर्देश तक नहीं किया इस लिये वेद अपौरुषेय हैं-यह कथन भी ठीक नहीं है क्यों कि वेदों में कई स्थानोंपर निर्देश किया गया है कि परम पुरुष परमेश्वर ने वेदों की रचना की है यथा—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत् । यजुः—पुरुष सूक्त।

अर्थात् उस यज्ञस्वरूप परमपूज्य परमेश्वर से ऋचायें और साम उत्पन्न हुए उसी परमपुरुष से अथर्व के छन्द उत्पन्न हुए तथा उसी पुरुषोत्तम से यजुः उत्पन्न हुआ।

वेद को किसी पुरुष (मनुष्य) की कृति मानने में बडे भयंकर दोष उपस्थित होते हैं इस लिये वेद को अपौरुषेय कहा गया है। पुरुष चाहे कोई भी क्यों न हो सर्वथा और सब विषयों में निर्भ्रान्त और निर्दोष नहीं हो सकता क्यों कि वह न तो सर्वज्ञ ही हो सकता है और न ही यथार्थ द्रष्टा हो सकता है। इसी लिये अपौरुषेय का अर्थ है-किसी मनुष्यकी रचना नहीं किन्तु पुरुषमात्र से अतिरिक्त तथा पुरुषोत्तम परमेश्वरकी निर्दुष्ट और यथार्थ रचना। दूसरे शब्दों में वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमपुरुष परमेश्वर की रचना हैं जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में ईश्वर को पुरुष विशेष कहा है यथा-"स पूर्वेषामपि गुरुः-" कह कर पुकारा है और वेद में तो पुरुष सूक्त आदि के मन्त्रों में परमेश्वर को 'पुरुष' शब्द से स्पष्ट वर्णन किया है अतः—

व्यस्तपुंदूषणाशंकैः स्मारितत्वात् पदैरमी
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत् कुतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—व्यस्तपुंदूषणाशंकैः पदैः—अनाप्तोक्तत्वदोषसे शून्य

परन्तु आकांक्षा आसत्ति और योग्यता से युक्त पदों से, स्मारितत्वात्-स्मरण करने के कारण जैसे, अमी-लौकिक वाक्य, अन्विताः—विशेष अर्थ के साथ अन्वय को प्राप्त हैं, इति निर्णीते—इस प्रकार निश्चय होनेसे, तत्-वही बात, वेदस्यअपि-वेदके विषयमें भी, कुतः न-क्यों न कही जाय।

व्याख्या—लौकिक ग्रन्थों को देखकर प्रत्येक व्यक्ति को अवश्यमेव यह निश्चय होता है कि इस की वाक्य रचना ऐसे पदों से युक्त है जिन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं और उन का अर्थ भी निश्चित है इसलिये यह ग्रन्थ किसी बुद्धिमान् कर्ता का रचा हुआ है। जब यह नियम लौकिक ग्रन्थों के विषय में माना जाता है और उस के आधार पर प्रत्येक ग्रन्थ का कोई न कोई बुद्धिमान् कर्ता स्वीकार किया जाता है तो वेद वाक्यों को देखकर भी अवश्यमेव निश्चय करना चाहिये कि वेद का रचयिता भी कोई बुद्धिमान् अवश्य है, लेकिन ग्रन्थों के वाक्यों में तो भ्रांति और न्यूनता आदि अनेक दोष पाये जाते हैं तिस पर भी उन का कोई कर्ता रचयिता माना जाता है, परन्तु वेद के मन्त्रों और वाक्यों के पद तो परस्पर इतने सम्बद्ध हैं और उन के इतने गम्भीर अर्थ हैं कि सामान्य क्या कोई विशेष ऋषि कोटि का पुरुष भी उन की रचना नहीं कर सकता। वेदों की रचना तथा उनमें वर्णित अनेक तात्विक तथा अलौकिक विद्याओं को देखकर यह निश्चय करना पडता है कि वेदों का रचयिता कोई सर्वज्ञ पुरुष है। वह सर्वज्ञ कोई मनुष्य नहीं हो सकता अतः सर्वानुभवी कोई परमेश्वर है और उसने ही वेद की रचना की है।

शब्द प्रमाण के विषय में विचार करने के अनन्तर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शब्द का प्रामाण्य अत्यन्त आवश्यक है और आप्तवाक्य का कार्यक्षेत्र अनुमान के क्षेत्र से सर्वथा भिन्न है। इसके साथ ही यह भी सिद्ध हुआ कि लौकिक ग्रन्थों और वाक्यों के समान ही नहीं अपितु उन से भी कहीं अधिक वेदों का प्रामाण्य है और वेदों का रचयिता भी कोई है।

शंका—अस्तु, शब्द प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ ईश्वर नाम का कोई जगत् का कर्ता नहीं है। यथा गीता में कहा है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता ।।

अर्थात् प्रकृति के सत्वादि गुणों से ही संसार का कार्यक्रम चल रहा है। अहंकार और अज्ञान से विमूढ व्यक्ति ही 'कर्ता' की कल्पना करते' हैं। इस से सिद्ध होता है कि कर्तृत्व का विचार पारमार्थिक नहीं है किन्तु भ्रान्तिजन्य है।

उत्तर—न प्रमाणमनाप्तोक्तिः नादृष्टे क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ।। १६ ।।

शब्दार्थ—अनाप्तोक्ति—यदि यह वाक्य किसी आप्त पुरुष का नहीं है तो, प्रमाणं न-इस का प्रमाण नहीं है। और यदि किसी आप्त पुरुष का वचन है तो इस से सिद्ध होता है कि, अदृश्यदृष्टौ—अदृष्ट पदार्थ के ज्ञान में, सर्वज्ञ-कोई सर्वज्ञ अवश्य है क्योंकि, अदृष्टे—अननुभूत पदार्थ के विषय में, क्वचित्—कहीं और किसी भी व्यक्ति में, आप्तता—आप्त पुरुषों की योग्यता, न—नहीं हो सकती, नित्यागमः च—और शब्द प्रमाण का नित्यत्व तो, क्षमः न—युक्ति प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या-जो व्यक्ति जिस तत्व को यथार्थतया जानता हो उस को उस विषय का आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष कहा जाता है और अपने अनुभूत विषय में जो कुछ वह कहता है उसका प्रमाण माना जाता है इस प्रकार संसारके व्यवहार में शब्द प्रमाण की उपादेयता प्रचलित हैं, यदि गीता का उपर्युक्त श्लोक श्रीकृष्णजी का उपदेश किया हुआ अथवा महर्षि व्यास का रचा हुआ है तो यह आप्त पुरुष का वचन होने से प्रमाण हुआ क्योंकि श्रीकृष्णजी और व्यासजी उच्च कोटि के यथार्थदर्शी महानुभाव हुए हैं। उन का वचन मिथ्या नहीं हो सकता।

यदि कहा जावे कि-'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इत्यादि वाक्य किसी आप्त पुरुष के वचन नहीं हैं तो उन वचनों का प्रामाण्य ही नहीं रहता क्योंकि शब्द की प्रमाणता के लिये वक्ता का आप्त होना अर्थात उस विषय का यथार्थ द्रष्टा होना अत्यन्त आवश्यक है, यदि वक्ता आप्त नहीं तो उसका वचन भी प्रमाण नहीं। यदि ऐसा न माना जावे

तो मुकद्दमें की पैरवी के लिये धोबी को वकील बना लेना चाहिये, जूती बनाने वाले चमार को साइंस की कुरसी दे देनी चाहिये, अंग्रेजी के एम. ए. को वेदोपाध्याय के कार्य पर लगा देना चाहिये अथवा व्याकरणाचार्य को इलैक्ट्रिकल इंजिनीयर का कार्यभार सौंप देना चाहिये। वस्त्रों की धुलाई आदि के सम्बन्ध में जितना अनुभव धोबी को है उतना और किसी को नहीं अतः धोने के विषय में धोबी को आप्त माना जायगा। चमड़े के जूता आदि बनाने के काममें चमार की आप्तता स्वीकार करनी होगी और वेदार्थ समझने में वेदाचार्य का ही प्रमाण मानना होगा तथा विज्ञान की शिक्षा के लिये वैज्ञानिक को ही आप्त मानना ठीक है। यदि वह उस विषय का आप्त अर्थात् पूर्णज्ञाता नहीं है तो उस विषय में उस का वचन प्रमाण नहीं हो सकता चाहे अन्य विषय का कितना ही जानकार क्यों न हो।

वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है उस का उपदेश करने वाला सर्वज्ञ ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता क्योंकि पुरुष मात्र शरीर आदि की उपाधि के कारण अल्पज्ञ हैं अतएव कोई भी पुरुष अल्पज्ञता से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। वेद निर्भ्रान्त कर्ता की कृति हैं अतः किसी भी पुरुष को चाहे वह ऋषि महर्षि भी क्यों न हो-उसे वेद का रचयिता नहीं माना जा सकता।

कृति या रचना होने से जैसे सूर्य चन्द्र और पृथिवी की सृष्टि नित्य नहीं है वैसे ही आगम प्रमाण वेद भी स्वरूप से नित्य नहीं है, जिस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि है अनन्त है स्वरूप से नहीं, इसी प्रकार वेद भी प्रवाह से अनादि अनन्त होने से नित्य कहा जा सकता हैं स्वरूप से नहीं।

शंका—यदि ऐसा हैं तो ईश्वर के अभावको बतलाने वाले वाक्यों का क्या होगा?

उत्तर—न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्वस्यापि प्रवेदनात्।
निरंजनाववोधार्थो नच सन्नपि तत्परः ॥१७॥

शब्दार्थ-असौ—आगम प्रमाण, सत्वस्य अपि-ईश्वर के अस्तित्व का भी-प्रवेदनात्—बहुशः प्रतिपादन करने से, क्वचित्—कहीं भी,

एकान्तः न-केवल असत्य का ही प्रतिपादक नहीं है, वाधकत्वेन प्रदर्शित वाक्यों का मुख्य तात्पर्य, निरञ्जनाववोधार्थः-आत्मा के निरंजन अर्थात् निर्गुण स्वरूप को समझाने के लिये हैं, सन् अपि—अस्तित्व मात्र से होता हुआ भी, तत्परः—कर्तृत्व से रहित होने में उसका तात्पर्य, न-नहीं है।

व्याख्या—वेद आदि सच्छास्त्रों और गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थों में आत्मा और परमात्मा का विशद वर्णन किया गया है। कहीं२ पूर्व पक्ष के रूप में तथा प्रकृति से सर्वथा भिन्न रूप में आत्मा के निर्गुण स्वरूप को भी प्रतिपादन किया गया है। इन दो प्रकार के वर्णनों में मुख्य बात आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व की है क्योंकि अस्तित्व के आधार पर ही यह सोचा जा सकता है कि वह कर्ता है या भोक्ता, सगुण है या निर्गुण, साकार है या निराकार, अथवा अणु है या व्यापक इत्यादि।

अतः न तो यह कहा जा सकता है कि शास्त्र में आत्मा के असद्भाव का वर्णन है और न ही यह कह सकते है कि शास्त्र का तात्पर्य ही आत्मा के निषेध करने में है क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो वक्ता और वक्तव्य दोनों अप्रमाण हो जावेंगे। यथा-कोई कहे कि 'मेरे मुख में जिह्वा नहीं है', जिह्वा से वोलना और यह कहना कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है-दोनों मिथ्या हैं; यदि जिह्वा नहीं तो बोला कैसे? और बोला है तो सच्चा कैसे?

शास्त्र में दो प्रकार के वाक्यों को देख कर विरोध की आशंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि शास्त्र का मुख्य तात्पर्य आत्मा के स्वरूप चिन्तन में है। कोई वाक्य पूर्वपक्ष के अनुवाद रूप में और कोई युक्ति प्रयुक्ति के रूप में तथा कोई सिद्धान्त या निर्णय के रूप में पाये जाते हैं परन्तु सब का उद्देश्य एकमात्र आत्मा का वर्णन करना है इसलिये गीता के 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' का मुख्य तात्पर्य आत्मा के निषेध अथवा ईश्वर के अकर्तृत्व में नहीं किन्तु परमात्मा को प्रकृति तथा प्रकृति के गुण धर्मों से सर्वथा भिन्न वतलाने में है। एक ही वस्तु का सामान्यतया और विशेषतया वर्णन करने से विरोध नहीं होता अपितु तत्वज्ञान के लिये यह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

इति शब्दवाधोद्धारः

अथ अर्थापत्ति बाधोद्धारः

नास्तिकों का कहना है कि ईश्वर न होने में अर्थापत्ति प्रमाण है। यथा-यदि कोई सर्वज्ञ ईश्वर होता तो उस को वेदादि किसी शब्द प्रमाण के द्वारा लोगों को धर्माधर्म का उपदेश न करना पड़ता क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से वह विना उपदेश किये ही अपने भावों को सर्वत्र पहुंचा सकता था। यदि विना उपदेश किये वेदका प्रकाश करना नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ कैसा? अतः इस से सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं है।

उत्तर—ऐसा विचार ठीक नहीं क्योंकि—

हेत्वभावे फलाभावात्प्रमाणेऽसति न प्रमा।
तदभावात् प्रवृत्तिर्नो कर्मवादेऽप्ययं विधिः॥ १८॥

शब्दार्थ—हेत्वभावे—हेतु अर्थात् कारण के न होने पर फलाभाव—फल अर्थात् कार्य भी नहीं हो सकता, और प्रमाणे असति—प्रमाण के न होने पर प्रमा न—ज्ञान नहीं हो सकता, और तदभावात्—प्रमा अर्थात् ज्ञान के न होने पर, प्रवृत्ति न—किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, कर्मवादे अपि—अन्यथा कर्म वाद में भी, अयं विधि—यही विधि स्वीकार करनी होगी।

व्याख्या—संसार में जन साधारण की जितनी भी खान पान और रहन सहन तथा अनेक प्रकार के कलाकौशल कार्य करने की प्रवृत्तियें हैं उन सब का कारण पूर्वजों द्वारा तद्विषयक उपदेश हैं, उन २ क्रियाओं के जानने वालों की अनुभूत युक्तियों को सुन तथा धारण करके अन्य जन अपने अभिलषित कार्यों में प्रवृत्त हो तथा प्रवृत्त हो कर उन का फल भोगते हैं। यदि अनुभवी कार्य कुशल व्यक्ति अपने ज्ञान का उपदेश अथवा उपयोग न करते तो संसार के लोगों की विविध प्रकार की प्रवृत्तियां भी दृष्टि गोचर न होतीं क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। प्रवृत्ति भी एक कार्य है उस का कारण अवश्य होना चाहिये और वह है प्रमा अर्थात् यथ ज्ञान जिस के द्वारा किसी विषय का निश्चय हो, यही

कारण है कि किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व उस विषय का पूरा २ ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, भोजन करने से क्षुधा निवृत्त होकर यदि स्वास्थ्य लाभ न होता तो भोजन करने में किसी की प्रवृत्ति न होती। वस्त्र पहिनने से शीत निवृत्ति के साथ लज्जा निवारण न होता तो वस्त्रों के धारण तथा निर्माण कला में किसी की प्रवृत्ति न पाई जाती तथा अग्नि जलाने से अंधकार नाश के साथ द्रव्यविपाक यदि न होता तो प्रकाश प्राप्त करने और रस रसायन आदि पुटपाक कलाओं का विकास न हो पाता परन्तु हुआ है अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रवृत्ति का कारण प्रमा अर्थात् ज्ञान है।

प्रमा के विषय में भी जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान किसी साधन के विना नहीं होता। हमारे ज्ञान के कई साधन हैं जैसे-बाह्य शब्दों के ज्ञान का साधन कान, रूप देखने का साधन चक्षु, गंध सूंघने का साधन नाक, स्पर्श से पता लगाने का साधन त्वचा और रस को जानने का साधन रसना या जिह्वा हैं (१) इस प्रकार प्रत्यक्ष के रूप में जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उस का साधन पांचों ज्ञानेन्द्रियों का पदार्थों से अनेक प्रकार का सन्निकर्ष है—इस का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। (२) दूसरे प्रकार की प्रमा अनुमिति है जिस का साधन अनुमान है, जिस के द्वारा हम को व्याप्तिज्ञान के बल पर पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है और कार्य कारण भाव आदि का पता लगा कर अनेक प्रकार के व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं (३) तीसरे प्रकार की प्रमा उपमिति है जिस का साधन उपमान है। इस के द्वारा आदृश्य ज्ञान के बलपर पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है और तदनुसार अनेक प्रकार से व्यवहार सिद्ध होता है (४) चौथे प्रकार की प्रमा का नाम शाब्दी प्रमा है। जिस का साधन किसी भी आप्त पुरुष का वचन है, इस के द्वारा उपदेश प्राप्त हो कर तदनुकूल कार्य में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रमाण से प्रमा अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है। यदि प्रमा का साधन अर्थात् प्रमाण न हो तो प्रमा भी नहीं हो सकती और प्रमा के न होने से संसार की अनेकविध प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। परन्तु संसार में प्रवृत्ति हैं-लोग अनेक प्रकार के लौकिक और पारलौकिक कार्य करते हैं। इस कर्मप्रवृत्ति का कारण 'प्रमा' भी संसार में विद्यमान है और प्रमा के कारण भी संसार में प्रमाण के

नाम से प्रसिद्ध ही हैं।

ईश्वरने आदि सृष्टि में महान् पुरुषों को वेद का उपदेश दिया उस उपदेश रूप शब्द प्रमाण को प्राप्त करके लोगों की खानपान, यज्ञदान तथा ज्ञानध्यान आदि कर्मों में प्रवृत्ति हुई। संसार की प्रवृत्ति ही सिद्ध करती है कि प्रवृत्ति से पहिले उस विषय का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि ज्ञान होने के अनन्तर ही उस विषय में ग्रहण करने अथवा परिहार करने की इच्छा होती है और इच्छा के पश्चात् ही तदनुकूल कार्य किया जाता है अर्थात् प्राप्तव्य की प्राप्ति तथा परित्याग करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार प्रमा की प्राप्ति के साधन रूप वेद के सिद्ध होने से वेद के उपदेश करने वाले की सत्ता को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है क्योंकि जिस प्रकार प्रमाण के विना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के विना इच्छा नहीं होती और इच्छा के विना किसी कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती—उसी प्रकार उपदेश के विना शब्द प्रमाण भी प्रकाशित नहीं हो सकता॥

यदि उपदेष्टा ईश्वर को स्वीकार न किया जावे तो वेद प्रमाण व्यर्थ हो जायगा। वेद के व्यर्थ होने से ज्ञान का लोप मानना होगा। ज्ञान के लोप से इच्छा का भी प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा। इच्छा के न होने से किसी की भी किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। परन्तु कौन माई का लाल कह सकता है कि संसार में कर्म की प्रवृत्ति नहीं है या प्रवृत्ति का कारण इच्छा नहीं है अथवा इच्छा का कारण ज्ञान नहीं है या प्रमाणों का ही अस्तित्व नहीं है! जब प्रवृत्ति के लिये इच्छा का कारण ज्ञान है और ज्ञान का भी साधन विद्यमान है तो उस साधन का प्रयोग सिखाने वाला भी कोई अवश्य है—और वह ईश्वर के अतिरिक्त और कोई हो नहीं सकता।

ईश्वर की सर्वज्ञता और कर्तृता तो संसार के कार्यों पर गम्भीर दृष्टि डालने से स्वत एव सिद्ध होती है क्योंकि ऐसी अद्भुत कलाः पूर्ण कृति किसी सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कर्ता के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है।

और दूसरी बात यह है कि अर्थापत्ति कोई स्वतंत्र प्रमाण भी नहीं है जिस को महत्वपूर्ण मान कर विचार किया जावे। यह तो अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत है। जो नास्तिक अर्थापत्ति को पृथक्

प्रमाण मान कर ईश्वर के अस्तित्व में बाधा उपस्थित करना चाहता है उस को विचारना चाहिये कि अर्थापत्ति का पृथक् प्रमाणत्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादक।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—अनियम्यस्य–जो व्याप्य नहीं है उस की, अयुक्तिः न–उपपत्ति नहीं होती ऐसा नहीं कह सकते, और जो अनियन्ता–नियन्ता॰ अर्थात् व्यापक नहीं है वह, उपपादकः न–उपपादक भी नहीं होता, मानयोः विरोधः–यदि कहो कि दोनों भाग प्रमाण हैं और उन का विरोध है तो, न–ऐसा भी नहीं कह सकते, प्रसिद्धे वा अपि–वह्निधूमरूप प्रसिद्ध अनुमान में भी, असौ समः–अर्थापत्ति का होना समान ही है।

व्याख्या—देवदत्त मोटा है परन्तु दिन को नहीं खाता है। देवदत्त का मोटा होना प्रत्यक्ष है—जो कोई देवदत्त को देखता है यही कहता है कि देवदत्त मोटा है। इस के साथ ही यह भी स्पष्ट और सत्य है कि देवदत्त दिन को भोजन नहीं करता। देवदत्त भी कहता है कि वह दिन को भोजन नहीं करता है और अन्य लोग भी साक्षी देते हैं कि यह दिन को भोजन नहीं करता है। अब प्रश्न यह है देवदत्त जब दिन में भोजन नहीं करता तो मोटा कैसे है? सर्वथा भोजन न करने से तो कोई मोटा हो नहीं सकता क्योंकि भोजन त्यागने से दुर्बलता और कृशता ही हो सकती है–स्थूलता नहीं। मोटापन एक कार्य है जिस का कोई कारण अवश्य होना चाहिये। 'दिन में न खाना'–मोटा होने का कारण नहीं हो सकता अतः अनुमान होता है कि देवदत्त रात्रि को अवश्य भोजन करता है। यदि दिन की भान्ति रात्रि को भी भोजन न करता तो अत्यन्त कृश होकर मर जाता। परन्तु देवदत्त तो मोटा होता जाता है अतः वह रात्रि को अवश्य भोजन करता है।

इस से सिद्ध हुआ कि दिन को भोजन न करने के साथ मोटे होने का कार्य कारण भाव नहीं है अपितु रात्रि को भोजन करने के

साथ ही मोटा होने का सम्बन्ध है। यह ज्ञान अर्थापत्ति के द्वारा हुआ। परन्तु विचार किया जाये तो यह ज्ञान अनुमान के द्वारा ही हुआ है। जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है और जहां २ धूम होता है वहां २ अग्नि होती है—की व्याप्ति होती है वैसे ही इस स्थल पर भी मोटा होने को देख कर रात्रि में भोजन करने का अनुमान होता है और जहां २ मोटापन होता है वहां २ भोजन करना पाया जाता है—इस की भी व्याप्ति पाई जाती है।

दिन को भोजन न करना और रात्रि को भी भोजन न करना—ये दो ही कारण कहे जा सकते हैं। परन्तु देखना यह है कि मोटा होने का कारण कौन है? दिन को भोजन न करना—यह तो कारण हो नहीं सकता क्योंकि वह कहता है कि देवदत्त दिन को भोजन नहीं करता। शेष रहा रात्रि को भोजन करना—अतः परिशेषानुमान से यही सिद्ध हुआ कि देवदत्त रात्रि को अवश्य भोजन करता है और इसी कारण मोटा है। यह भी सत्य है कि दिन को भोजन नहीं करता और यह भी सत्य है कि वह मोटा है अतः इन दोनों में विरोध नहीं है।

यह भी सत्य है कि रात्रि को अवश्य भोजन करता है। और यह भी सत्य है कि वह मोटा है अतः इन दोनों सत्यों में भी विरोध नहीं है। विरोध तो तब आता है जब यह कहा जावे कि रात्रि को भी भोजन नहीं करता और मोटा है।

जैसे धूम और अग्नि के अनुमान में अन्वय तथा व्यतिरेक पाया जाता है वैसे ही मोटापन और भोजन करनें में भी पाया जाता है। अतः अर्थापत्ति कोई पृथक् प्रमाण नहीं अपितु अनुमान के अन्तर्गत ही है और इस के साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि अर्थापत्ति के द्वारा परमात्मा की सत्ता का बाध नहीं होता अर्थात् यदि कोई नास्तिक यह कहे कि ईश्वर के न होने में अर्थापत्ति प्रमाण को उपस्थित किया जा सकता है—तो वह कोई ऐसी अर्थापत्ति नहीं ला सकता जिस से ईश्वर का अभाव सिद्ध हो सके। यदि कोई अर्थापत्ति लावे भी तो उसके द्वारा ईश्वर का अस्तित्व ही सिद्ध हो जायगा।

इति अर्थापत्ति बाधोद्धारः।

अथ अनुपलब्धिबाधोद्धारः

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकरण में योग्यानुपलब्धि और अयोग्यानुपलब्धि की चर्चा चला कर यह सिद्ध किया जा चुका है कि अनुपलब्धि के द्वारा ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।* यहां यह सिद्ध किया जाना आवश्यक है कि अनुपलब्धि कोई विशेष प्रमाण नहीं है अपितु प्रत्यक्ष आदि के अन्तर्गत है।

इस विषय को स्पष्ट किया जाता है ध्यान दीजिये—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्या दिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥ २० ॥

शब्दार्थ—प्रतिपत्तेः—प्रतीति के, अपारोक्ष्यात्-प्रत्यक्ष होने से तथा, इन्द्रियस्य-चक्षुरादि इन्द्रियके, अनुपक्षयात्-नाश न होने से, और अज्ञातकरणत्वात् च- ज्ञान के साधन के अज्ञात होने से, च- और चेतसः-मन के, भावावेशात्-भावरूप प्रमाण से सम्बद्ध होने से अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष आदि से पृथक् प्रमाण नहीं माना जा सकता ।

व्याख्या—हम को कभी पदार्थ के अभाव का ज्ञान किसी इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। इस विषय में नियम यह है कि जिस इन्द्रिय से किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी इन्द्रिय के द्वारा उस पदार्थ के गुणों का तथा उस के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है जैसे—घर में घट के होने का प्रत्यक्ष चक्षुः से होता है तथा घट के रूप का प्रत्यक्ष भी चक्षुः से ही होता है अर्थात् घट का क्या रूप है काला है या लाल है इस का प्रत्यक्ष भी चक्षुः के द्वारा ही होता है। न केवल यही अपितु घट के न होने का प्रत्यक्ष भी चक्षुः के द्वारा ही होता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि घट के होने का ज्ञान तो चक्षुः से होता हो और उसके वहां न होने का ज्ञान नाक या कानादि से हो— किन्तु नहीं, घट के वहां न होने का ज्ञान भी चक्षुः के द्वारा ही होता है। तात्पर्य यह है कि घर में दृष्टि पडते ही यदि वहां घट होता है तो तत्काल कहता है कि यहां घट पडा है और यदि वहां नहीं होता

*देखो पृष्ठ संख्या ६५से

तो भी तत्काल कहता है कि यहां घट नहीं है। अतः प्रतीति मात्र से ही अभाव का प्रत्यक्ष हो जाने से सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जावे कि चक्षुविहीन व्यक्ति को घट के होने या न होने का ज्ञान चक्षुः से नहीं किन्तु हाथ से टटोलने के कारण त्वचा से होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि अंधे के पास आंखों के न होने से, होने अथवा न होने का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता, अंधा नहीं जान सकता कि घर में घट विद्यमान है वह लाल रंग का है अथवा काले रंग का है। दूसरी बात यह है कि संसार में अंधे ही नहीं रहते जो उन को ही प्रमाण मान कर चक्षुष्मानों के अनुभव को निकृष्ट कह कर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जावे। अतः चक्षुः इन्द्रिय के स्वस्थ होने से जो ज्ञान होता है वह चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा अनुमान हो अपना विशेष महत्व रखता है इस लिये भी अनुपलब्धि कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

हम को जो किसी पदार्थ के कहीं पर होने का ज्ञान होता है वह सीधा इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के द्वारा ही होता है—जैसे नील पीत आदि रूप का प्रत्यक्ष। यह पदार्थ नीले रंग का है और यह पदार्थ पीले रंग का है-यह प्रत्यक्ष ज्ञान जिस प्रकार उस पदार्थ और चक्षुः इन्द्रिय के सन्निकर्ष के कारण होता है उसी प्रकार चक्षुः इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से हम को अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है-यहां पर घट नहीं है। जब अनुभव ऐसा है तो यह प्रत्यक्ष ही कहा जा सकता है न कि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त कोई अन्य स्वतंत्र प्रमाण।

एक बात और भी विचारणीय है और वह यह कि जब हम किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त करते हैं तो उस समय हमारे मन का सम्बन्ध किसी भावरूप प्रमाण के साथ ही होता है। यदि कोई प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो उस समय मन के साथ कोई न कोई इन्द्रिय अवश्यमेव संयुक्त होती है, यदि अनुमिति ज्ञान होता है तो धूम आदि भाव पदार्थ अग्नि के हेतुरूप में अवश्यमेव विद्यमान होता है क्योंकि भावरूप धूम की अनुपस्थिति में अग्नि के विद्यमान होने का अनुमान ही नहीं किया जा सकता। और यदि शब्दबोध का प्रकरण हो तो शब्द प्रमाण के विना वह भी सर्वथा असम्भव ही होता है। अधिक क्या, किसी भी बाह्य पदार्थ के ज्ञान के लिये मन का इन्द्रिय-

लिंग और शब्द आदि भावरूप प्रमाण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना परम आवश्यक होता है क्योंकि मन को इन्द्रिय आदि सहकारी कारणों की सदा अपेक्षा बनी रहती है और इन की परम उपयोगी सहायता के विना प्रत्यक्षादि ज्ञानों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये भी अनुपलब्धि को प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता।

यदि इस बात को स्वीकार न किया जावे तो पदार्थों के ज्ञान का इन्द्रिय आदि के साथ कार्य कारणभाव ही सिद्ध न होगा और उससे लोक व्यवहार के लोप का प्रसंग भी उपस्थित होगा।

और भी विचार किया जावे तो अभाव के ज्ञान में इन्द्रियें ही मुख्य कारण सिद्ध होती हैं यथा—

प्रतियोगिनि सामर्थ्यात् व्यापारा व्यवधानतः।
अक्षाश्रयत्वात्दोषाणाम् इन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥२१॥

शब्दार्थ—प्रतियोगिनि—घट आदि प्रतियोगी में, सामर्थ्यात्—सामर्थ्य होने से, व्यापार व्यवधानतः—व्यापार के व्यवधान न होने से तथा, दोषाणाम्—दोषों के, अक्षाश्रयत्वात्—चक्षुरादि इन्द्रियां के आश्रय होने से और, विकल्पनात्—विरुद्धकल्पना से भी यही सिद्ध होता है कि, इन्द्रियाणि—इन्द्रियें ही अभाव ज्ञान का कारण हैं अनुपलब्धि नहीं।

व्याख्या—जिस पदार्थ के अभाव का ज्ञान होता है वह पदार्थ ही उस अभाव का प्रतियोगी होता है। और जिस स्थान पर उस अभाव का साक्षात्कार होता है वह स्थान ही उस अभाव का अनुयोगी होता है। जैसे घर में घड़ा नहीं है-यहां घड़े का न होना ही घटाभाव कहलाता है और इस अभाव का प्रतियोगी घट ही है तथा जिस घर में घड़ा नहीं है वह घर ही घटाभाव का अनुयोगी कहलाता है। प्रतियोगी घट आदि पदार्थ सदा भावरूप ही होते हैं और उनकी प्रतीति चक्षु आदि किसी इन्द्रिय के द्वारा ही होती है। यह उस इन्द्रिय का सामर्थ्य है और जिस पदार्थ का अभाव प्रतीत होता है उस प्रतीति का सम्बन्ध घट के ही साथ है। अतः उसका सामर्थ्य अभाव

के प्रतियोगी घट में ही है-यदि घट ही न हो तो अभाव किस का ? जब अभावज्ञान का सीधा सम्बन्ध घट के साथ है तो इस प्रतीति का सामर्थ्य प्रतियोगी में ही मानना पडता है। सामर्थ्य का तात्पर्य यह है कि यदि प्रतियोगी ही न हो तो अभाव किस का कहा जायेगा ? और प्रतियोगी का ज्ञान किसी इन्द्रिय के द्वारा ही होता है तथा जिस का ज्ञान जिस इन्द्रिय के द्वारा होता है उसके गुणों और उसके अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय के द्वारा हुआ करता है। अतः अभाव की प्रतीति में प्रतियोगी का और प्रतियोगी की प्रतीति में इन्द्रियों का ही सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य पर विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि अभाव की प्रतीति में प्रत्यक्ष आदि भावरूप प्रमाण हैं न कि इन से अतिरिक्त कोई अभावरूप अनुपलब्धि।

जिस क्रिया के विना जिस का करणत्व ही सिद्ध न हो वह ही उसका व्यापार कहा जाता है। अभाव ज्ञान में व्यापार का व्यवधान भी नहीं होता किन्तु जैसी क्रिया और व्यापार घट आदि भाव पदार्थ के ज्ञान में चक्षुः इन्द्रिय को करना पडता है वैसा ही व्यापार और वही क्रिया घट आदि के अभाव ज्ञान के समय भी करनी पडती है अर्थात् किसी पदार्थ के दिखाई देने या न दिखाई देने में चक्षु इन्द्रिय को एक जैसी ही क्रिया करनी पडती है और जो नियम किसी पदार्थ के भाव-ज्ञान के साथ सम्बन्ध रखते हैं वही नियम उसके अभावज्ञान के साथ भी सम्बन्ध रखते हैं-दोनों में किसी प्रकार भेद नहीं है। जैसा घट ज्ञान के लिये मनोपूर्वक चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपेक्षित है वैसा ही घटाभाव ज्ञान के लिये भी अपेक्षित है। आंखों का निर्दुष्ट होना जैसे घटज्ञान के लिये आवश्यक है वैसा ही निर्दुष्ट होना घट के अभाव ज्ञान के समय भी आवश्यक है। अतः दोनों प्रकार के ज्ञानों अर्थात् भावज्ञान और अभावज्ञान के व्यापार में कोई व्यापार या क्रिया का व्यवधान न पाये जाने से भी यही परिणाम निकलता है कि इन्द्रियें ही अभाव ज्ञान का कारण हैं तथा प्रत्यक्ष से अतिरिक्त किसी अनुपलब्धि प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

कभी २ ऐसा भी होता है कि कोई पदार्थ होता हुआ भी वहां प्रतीत नहीं होता अथवा कुछ का कुछ ही प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में यही मानना पडता है कि इन्द्रियों के गोलकों में बलवान् दोष

के होने से ही ऐसी प्रतीति होती है। यदि चक्षु की नाडियों में पाण्डु रोग के कारण पित्त का दोष उपस्थित हो जावे तो श्वेत पदार्थ भी पीले वर्ण के दिखाई देने लगते हैं और यदि दृष्टि मान्द्य के कारण श्लेष्मा के अंश स्थिर हो जावें तो पदार्थ धुन्धले और धूसर से प्रतीत होने लगते हैं तथा यदि आखों में वात के दोष विद्यमान हों तो पदार्थ घूमते और चक्कर लगाते भी प्रतीत होने लगते हैं। और यदि कोई और इन्द्रियविकार उत्पन्न हो जावे-आंखें दुःखनी आ जावें, चोट लगने से दृष्टि शक्ति नष्ट हो जावे अथवा मोतियाविन्द उतर आवे तो पास पडे पदार्थ भी दिखाई नहीं देते। ऐसे स्थलों पर पदार्थों की प्रतीति न होना अथवा उनके वहां न होने का ज्ञान होना भी अनुपलब्धि प्रमाण का साधक नहीं माना जा सकता क्योंकि वहां भी अभाव का ज्ञान इन्द्रियों के कारण ही होता है। अन्तर केवल इतना है वहां दोषों की प्रवलता के कारण ही ऐसा विपर्यय ज्ञान होता है और उन दोषों का आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियें ही होती हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि निर्दुष्ट इन्द्रियें ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा भावाभाव ज्ञान के कारण हैं।

यदि कहा जावे कि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा अधिकरण ग्रहण के समान अनुपलब्धि के अभाव ग्रहण को भी स्वीकार कर लिया जावे तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी विरूद्ध कल्पना से भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकती। जब यह कहा, जाता है कि 'यह स्थान घंट रहित हैं' वहां 'यह स्थान' विशेष्य होता है और 'घटर हितहै' यह पद विशेष्य और विशेषण पर विचार करने से एक विशिष्ट ज्ञान होता है जिस एक विशेष्य और दूसरा विशेषण वन कर सामने आता हैं। विचार यह है कि इस विशिष्ट ज्ञान का कारण क्या हैं। कहना पडेगा कि इस विशिष्ट ज्ञान का कारण भी इन्द्रिय ही है क्योंकि ऐसे स्थल में चक्षु इन्दिय के द्वारा ही विशेष्य और विशेषण का ज्ञान होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जावे और यह कहा जावे कि चक्षु के द्वारा अधिकरण ग्रहण और अनुपलब्धि के द्वारा अभाव ग्रहण-इन दोनों प्रमाणों को संयुक्त रूप से कारण मान लेना चाहिये तो यह भी एक अनर्गल और व्यर्थ की कल्पना है। विचार कीजिये जहां दो व्यक्ति अपने २ विभिन्न कार्यों में लगे हुए हों और दोनों की कार्य सरणि तथा क्रिया प्रणाली पृथक पृथक दिशा की ओर हो वहां परिणाम

एक कैसे हो सकता है। एक ओर एक तन्तुवाय जुलाहा सूत्र के तन्तुओं को लेकर अपने तुरीवेम आदि साधनों से वस्त्र बुनरहा हो और दूसरी ओर एक कुलाल कुम्भार मृत्तिका को लेकर अपने दण्ड-चक्र आदि साधनों से कुम्भ आदि पात्र बना रहा हो—तो बतलाइये दोनों की क्रियाओं का एक परिणाम कैसे निकलेगा। यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि जब दोनों के उद्देश्य पृथक पृथक हैं, साधन पृथक २ हैं और उपादान पृथक २ हैं तथा व्यापार और क्रिया कलाप पृथक २ हैं तो परिणाम भी अवश्यमेव पृथक २ ही होंगे। एक की क्रिया का परिणाम वस्त्र होगा और दूसरे की क्रिया का परिणाम कुम्भ आदि पात्र होंगे। एक कार्पास के सूत्रों से वस्त्र बुनने में मग्न हैं तो दूसरा मृत्तिका को गून्थ कर घडे आदि के बनाने में लीन है। वस्त्र का उपयोग कुछ है और घडे आदि का उपयोग कुछ और ही है। यह कभी नहीं हो सकता कि कुविन्द और कुलाल का तथा तन्तु और मृत्तिका का और तुरीवेमादि तथा दण्ड चक्रादि का एकत्र समाहार होकर एक परिणाम निकले। जब यह विचित्र और विरुद्ध कल्पना किसी ठीक और उपयोगी परिणाम पर नहीं पहुंचा सकती हैं तो चक्षु द्वारा अधिकरण ग्रहण और अनुपलब्धि के द्वारा अभावांश ग्रहण का सम्मेलन भी अभावज्ञान रूप परिणाम पर नहीं पहुंचा सकता। इस-लिये भी इन्द्रियें ही अभावज्ञान का कारण हैं।

शंका— अभाव के साथ इन्द्रियों का संयोग हो तो चक्षु द्वारा उसका ज्ञान हो परन्तु ऐसा नहीं हैं और न ही कोई और सम्बन्ध है अतः अभाव ज्ञान के लिये अनुपलब्धि को पृथक प्रमाण स्वीकार करना चाहिये।

अवच्छेदग्रहध्रौव्यादध्रौव्ये सिद्धसाधनात्।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥२२॥

शब्दार्थ—अवच्छेदग्रहध्रौव्यात्—अभाव ज्ञानका अपने प्रतियोगी के साथ सदा सम्बन्ध होता और, अध्रौव्ये—यदि इस नियम को न माना जाये तो, सिद्धसाधनात्—सिद्ध साधन दोष उपस्थित होता तथा, प्राप्त्यन्तरे—स्वरूप से अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध स्वीकार करने पर, अनवस्थानात्—अनवस्था दोष उपस्थित होता है।

न चेत्—यदि अभावज्ञान का इन्द्रिय को कारण न माना जावे तो, अन्यः अपि—आपका अभिमत अनुपलब्धि प्रमाण भी, दुर्घटः—कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—अभाव ज्ञान के सम्बन्ध में नियम यह है कि अभाव का जब भी ज्ञान होगा वह अपने प्रतियोगी के साथ ही होगा; बिना प्रतियोगी के अभाव ज्ञान का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। जैसे—घर को देखकर या खेत को देखकर कोई व्यक्ति यह कहे कि 'यहां नहीं है' प्रश्न होगा कि घर में या खेत में क्या नहीं है ? अर्थात् किस व्यक्ति या पदार्थ के विषय में कहा जा रहा है कि वह नहीं है ? जब तक यह न बताया जावे कि अमुक वस्तु नहीं है या अमुक व्यक्ति नहीं है तब तक जिज्ञासा शान्त नहीं होती और वक्ता के वाक्य का अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। जब कोई यह कहता है कि 'नहीं है' तो उसको यह भी बताना चाहिये कि घट नहीं है या पट नहीं है अथवा अमुक नहीं है। अवच्छेद अर्थात् प्रतियोगी के साथ अभाव ज्ञान का इतना अटूट सम्बन्ध है कि बिना प्रतियोगी के अभाव ज्ञान की व्याख्या ही नहीं की जा सकती और इस के साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जो प्रतियोगी होता है वह भावरूप ही हुआ करता है क्योंकि जिस का अभाव प्रतीत होगा वह पदार्थ भावरूप में ही विद्यमान होगा।

यदि इस नियम को स्वीकार न किया जावे तो घटाभाव के स्थान पर पटाभाव के ज्ञान होने का प्रसंग उपस्थित होगा। उस से बचने के लिये यदि कहा जावे कि हम अभाव को देखकर कहेंगे कि घट का अभाव है अर्थात् यहां पहिले घडा था अब यहां घडा नहीं है यदि यहां घडा होता तो अन्य पदार्थों के समान वह भी दिखाई देता परन्तु अच्छी प्रकार से देखने पर भी घडा यहां दिखाई नहीं देता अतः यहां घडा नहीं है। विचार किया जावे तो इस अनुमान में चक्षु इन्द्रिय को घट के अभाव ज्ञान का कारण स्वीकार कर लिया गया है अतः यह तो सिद्धसाधन हुआ—अनुपलब्धि की पृथक् प्रमाणता सिद्ध न होकर यह ही सिद्ध हुआ कि चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ही अभाव ज्ञान हुआ। और यह प्रत्यक्ष है अनुपलब्धि नहीं।

तीसरी बात यह है कि अभाव किस सम्बन्ध से प्रतीत होता है ? यह भी विचारणीय है। यदि संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध से

प्रतीति स्वीकार की जावे तो यह भी स्थिति के विरुद्ध है क्योंकि ऐसा मानने से अनवस्था दोष उपस्थित होता है। अतः ऐसा मानना भी ठीक नहीं है।

यदि कहा जावे कि हम तो अभाव ज्ञान के लिये अनुपलब्धि से अतिरिक्त किसी अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो नहीं मान सकते तो फिर यह भी समझ लीजिये कि विना इन्द्रियों को कारण स्वीकार किये अनुपलब्धि नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण भी कोई लाख यत्न करने पर भी सिद्ध न हो सकेगा और जिस अनुपलब्धि को आप अभाव ज्ञान का कारण बताना चाहते हैं—वह अनुपलब्धि भी चक्षु आदि इन्द्रियों के सहयोग के बिना कभी सिद्ध नहीं हो सकेगी। अतः अन्ततोगत्वा यह ही स्वीकार करना होगा कि अभाव का ज्ञान अपने प्रतियोगी और अनुयोगी की सत्ता के आधीन होता है और प्रतियोगी तथा अनुयोगी सदा भावरूप होते हैं और उनका ज्ञान भी इन्द्रियों के द्वारा ही होता है।

परिणामतः कहना पड़ता है कि जब अनुपलब्धि कोई स्वतन्त्र प्रमाण ही नहीं है तो उस के द्वारा ईश्वर का अभाव कैसे सिद्ध होगा। यदि कहा जावे कि हम अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अन्तर्गत मान कर कहते हैं कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ईश्वर का अभाव सिद्ध किया जा सकता है तो हम भी डंके की चोट से कहते हैं कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ईश्वर की सत्ता ही सिद्ध होती है ईश्वर का अभाव नहीं जैसा कि हम पीछे सिद्ध कर आये हैं और आगे भी पांचवें स्तवक में सिद्ध करेंगे।

> प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमधरो दूरे विरोधोदयः
> मायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्मापि नासाद्यते।
> तं सर्वानुविधेयमेकमसम स्वच्छन्द लीलोत्सवं
> देवानामपिदेवमुद्ववदतिश्रद्धा : मपद्यामहे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ— एभिः प्रत्याक्षादिभिः— इन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा, अधरः—निकृष्ट, विरोधोदयः—बाधा पहुंचा कर ईश्वर की परमपावनी, परमोपयोगिनी और अत्यन्तावश्यकीय सत्ता का विरोध कर सकना

से, दूरे—बहुत दूर बात है अर्थात् सर्वथा असम्भव है। क्योंकि, प्रायः-प्रायः, यन्मुखवीक्षणैकविधुरैः—ये प्रत्यक्षादि प्रमाण तो सदा उस ईश्वर के मुख की ओर ही निहारा करते हैं तथा उस की कृपा के बिना आत्मा अपि न आसाद्यते—इनका प्रमाणत्व भी सिद्ध नहीं होता, तम् सर्वानुविधेयम्—उस सर्व संसार के पूज्य, एकम् असमस्वच्छन्द-लीलोत्सवम्—एक तथा आनन्दघन, देवानाम् अपि देवम्—देवों के भी परमदेव परमात्मा को, उद्धवदतिश्रद्धाः—हार्दिक विश्वास से अत्यन्त श्रद्धालु होकर, प्रपद्यामहे—हम प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का लाभ मनुष्य को जीवन काल में प्राप्त होता है। जीवनकालका कोई कार्य और कोई व्यापार इन प्रमाणों की सहायता के बिना सिद्ध नहीं होता। देखना, सुनना, सूंघना और चखना, छूना आदि क्रियाकलाप चक्षु आदि इन्द्रियों से किया जाता है जो कि प्रत्यक्ष कहलाता है। यदि जीवन न होता तो आंख-कान आदि इन्द्रियें भी न होतीं और इन्द्रियों के न होने से प्रत्यक्ष के व्यवहार भी सम्पन्न न हो सकते। जीवन की भूमि में प्रविष्ट होना और चक्षुरादि इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करना हमारे अपने ज्ञान तथा पुरुषार्थ का फल नहीं है। हम को तो इतना भी पता नहीं कि बाल्य अवस्था में हमारा जीवन कैसा था और माता के गर्भाशय में हमारी क्या दशा थी—इस को तो कोई जानता ही नहीं, क्योंकि जिन आंखों में उस दशा को देखने का सामर्थ्य माना जाता है, वे आंखें तो उस समय अभी बनी भी नहीं थीं फिर देखतीं कैसे? और बन चुकने पर भी पलकों से ढकी और जेर से लिपटी होने के कारण देख भी कैसे सकती थीं? यही दशा कान, नाक, जिह्वा और त्वचा इन्द्रियों की भी थी। जो प्रत्यक्ष प्रमाण, अपनी कार्य शैली के लिये इन्द्रियों के आधीन है और इन्द्रियें शरीर के आधीन हैं और शरीर अपने जीवन के लिये पंच भौतिक तत्वों के आधीन है—वह पराधीनों का भी पराधीन होता हुआ, संसार का और संसार के नियामक संचालक का प्रतिषेध कैसे कर सकता है और यदि करता भी है तो किस मुख से करता है! आंखें यदि किसी पदार्थ को देखकर उस की सत्ता का वर्णन करना चाहें तो सूर्य अथवा अग्नि की सहायता को प्राप्त किये बिना नहीं कर

सकतीं। कान यदि सुनना चाहें तो आकाश की सहायता के बिना सुन ही नहीं सकते। त्वचा यदि किसी पदार्थ का स्पर्श करना चाहे तो वायु की सहायता के विना स्पर्श ही नहीं कर सकती। जिह्वा यदि चखना चाहे तो विना जल की सहायता के चखने का कार्य नहीं कर सकती और नाक यदि सूंघने का कार्य करना चाहे तो विना पृथिवी की सहायता के सूंघ ही नहीं सकती।

विचार किया जावे तो हम को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमने अपने शरीर और इन्द्रियों को उत्पन्न नहीं किया और न ही इन के जीवनाधार सूर्य पृथिवी और जल आदि तत्वों को उत्पन्न किया है– हम को तो ये सब सामग्री, बनी बनाई मिल गई है। जब शरीर इन्द्रिय और संसार के पदार्थ हमारे बनाये नहीं हैं और हम अपने जीवन के लिये संसार का मुख देखते हैं तथा पराधीन हैं और संसार के जीवनोपयोगी तत्वों के विना सोच-विचार तक नहीं सकते तो हम किस मुख से संसार के उत्पादक और शरीरेन्द्रिय के प्रदान-कर्ता परमेश्वर की सत्ता का निषेध कर सकते हैं? आचार्यने कहा है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सत्ता उन की अपनी नहीं हैं किन्तु ईश्वरी नियमों के आधीन नियंत्रित है और जो स्वयम् नियंत्रित हैं, पराधीन है तथा अपने जीवन और कार्य कलाप के लिये परमुखापेक्षी है–वह कैसे ईश्वर की सत्ता का निषेध करने का दुःसाहस कर सकता है और यदि करता भी है तो कौन विचारशील इस अनर्गल और अनधिकृत क्रिया को महत्व दे सकता है? अतः प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ईश्वर की सत्ता का निषेध कभी नहीं किया जा सकता और कोई नहीं कर सकता। सच पूछ जावे तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ईश्वर का अभाव सिद्ध करना ऐसा ही अनर्गल, निरर्थक तथा घृणित है जैसे कोई पुत्र बड़े प्रबल आग्रह के साथ यह सिद्ध करना चाहे कि उस का कोई पिता नहीं है। भला सन्तान को देख कर भी कौन बुद्धि का धनी है जो यह स्वीकार करेगा कि इस का कोई पिता नहीं!

परमेश्वर ने इस संसार को रचा है और बड़ी चातुरी से रचा है। विशेषता यह है कि इतनी बड़ी सृष्टि को रचने के लिये परमेश्वर ने किसी दूसरे की सहायता नहीं ली और इस के पालनपोषण तथा

नियन्त्रण के लिये भी किसी दूसरे की सहायता नहीं ले रहा है, वह अकेला ही इस महान् जगत् के महान् कार्य को कर रहा है, और कर रहा है विना किसी विशेष श्रम और परिश्रम के! इसी लिये वह अपने स्वरूप में स्थित होता हुआ आनन्द में सदा मग्न है।

अतः ऐसे सकल जगत् के स्वामी सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर के लिये हम अपने हृदयों में अत्यन्त श्रद्धा और अटूट विश्वास के भाव भर कर सच्चे आस्तिक बनें और उस की परम पावन शरण में पहुंच कर सच्ची शांति और मोक्ष को प्राप्त करें। हम सदा प्रमाणों का ही मुंह न देखते रहा करें अपितु श्रद्धा माता की अंगुली पकड कर परमपिता परमेश्वर की निर्भय गोद में पहुंचने का भी पुरुषार्थ करें। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है कि—

> ओ३म् यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर-
> मुतेमाहुः नैषोऽस्तीत्येनम् ।
> सो अर्यः पुष्टीः विज इवामिनाति
> श्रदस्मै धत्त सजनास इन्द्रः ॥ ऋ २-१२-५

अर्थात् जिस परमप्रतापी और अद्भुत कर्मकर्ता परमेश्वर के विषय में प्रायः सर्वसाधारण पूछा करते हैं कि—वह परमेश्वर कहां है? और उस की सत्ता को सिद्ध करने में कौन प्रमाण समर्थ है? जब कोई प्रवल प्रमाण नहीं मिलता तो झट से विना सोचे-विचारे कहने लगते हैं कि परमेश्वर नाम का कोई तत्व इस संसार में विद्यमान नहीं है। उन से कह दो कि इस कलापूर्ण विचित्र कृति का कोई कलाकार और रचयिता परमेश्वर भी है। वह इस जगती का कर्ता और स्वामी है। उस का शासन इस संसार के अणु २ पर सदा से चला आ रहा है, वह सर्व शक्तिमान् है और बडे २ अभिमानियों को क्षण भर में नीचा दिखा सकता है। उस जगत्पिता और जगत्स्वामी परमेश्वर के लिये अपने हृदयों में अत्यन्तश्रद्धा धारण करो और उस की परमोपयोगिनी पावनी सत्ता में विश्वास करो—विश्वास करो, जन्ममरण के चक्र में घूमने वाले मनुष्यो! उस परमेश्वर पर विश्वास करो वह तुम्हारा बेडा पार करने वाला परमेश्वर है।

तृतीय स्तवक का संक्षिप्त सार

(१) ईश्वर की अनुपलब्धि उसके इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य होने के कारण है।

(२) ईश्वर का अतीन्द्रिय होना-ईश्वर के न होने को सिद्ध नहीं कर सकता।

(३) शश-शृंग की अनुपलब्धि, शश-शृंग के इन्द्रिय ग्रहण के योग्य होते हुए ही है-हम शश को और सींगो को आंखों से देखते हैं और शश के शृंग भी यदि हों तो भी हम उनको आंखों से देख सकते हैं परन्तु परमेश्वर को वायु के समान कभी आंखों से देख नहीं सकते।

(४) यह कहना कि ईश्वर नहीं है-अनुमान नहीं कहला सकता क्योंकि अनुमान का आश्रय अथवा पक्ष कोई न कोई अवश्य प्रसिद्ध तत्व होता है और भावरूप में विद्यमान होता है परन्तु इस अनुमान में पक्ष ही नहीं है।

(५) ईश्वर का अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस का अभाव कहा जाता है वह पदार्थ उसका प्रतियोगी होने से सदा भाव रूप से हुआ करता है-अतः इससे भी यही सिद्ध होता है कि ईश्वर कोई भावरूप से विद्यमान तत्व है न कि अभावरूप।

(६) यदि किसी आगम अर्थात् आप्तवाक्य से ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का प्रतिषेध किया जावे तो यह बताना होगा कि उस वाक्य को प्रमाण मानकर ईश्वर की सर्वज्ञता आदि का निषेध किया जाता है अथवा अप्रमाण मान कर।

(७) यदि प्रमाण मान कर, तो उस प्रमाण से सर्वज्ञता आदि ईश्वरीय सद्गुणों की ही सिद्धि होगी न कि उनका अभाव, और यदि अप्रमाण या प्रमाणाभास मान कर सिद्ध करना चाहते हो तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जो वाक्य स्वयम् अप्रमाण है उससे ईश्वर का या उसके सर्वज्ञत्वादि गुणों का अभाव भी कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

(८) सन्देहवाद की दृष्टि से भी ईश्वर का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस प्रकार सन्देह के घोडे पर सदा सवार रहने से तो प्रत्यक्ष की भी सिद्धि न होगी।

(९) यदि किसी स्थल पर व्यभिचार-शंका हो तो अनुमान से उस शंका का परिहार किया जा सकता है।

(१०) यदि व्यभिचार-शंका नहीं है तब तो अनुमान का मार्ग ही निष्कण्टक है-अनुमान के द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

(११) जहां अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा व्यभिचार शंका का निवारण हो जाता है वहां विरोधी पक्ष के बडे से बडे हेतु के भी दान्त खट्टे किये जा सकते हैं और अपने पक्ष को अनायास ही सिद्ध किया जा सकता है।

(१२) उपमान प्रमाण का आश्रय लेकर यदि कहा जावे कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो हम भी कह सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है।

(१३) संसार में दो प्रकार के ही पदार्थ हैं-एकभाव दूसरे अभाव। भाव और अभाव अपने २ स्वरूप से परस्पर विरुद्ध हैं। भाव इसलिये भाव नहीं कि-वह अभाव नहीं है और न ही अभाव इसलिये अभाव है कि-वह भाव नहीं है।

(१४) जैसे भाव का अभाव होता है वैसे ही अभाव का भी अभाव होता है।

(१५) आप कहते हो कि ईश्वर का अभाव है, हम कहते हैं कि ऐसा नहीं किन्तु ईश्वर के अभाव का अभाव है अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है।

(१६) आकाश और वायु दोनों नीरूप हैं-चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य हैं। आकाश व्यापक है और वायु जीवनाधार है। ईश्वर भी इनके समान चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य है और इन के समान ही उपयोगी है। आकाश के समान व्यापक तथा निरवयव है और वायु के समान जीवनाधार है। अतः उपमान प्रमाण ईश्वर की सत्ता का बाधक नहीं किन्तु साधक है।

(१७) शब्द प्रमाण भी बाधक नहीं क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ईश्वर के सद्भाव का ही प्रतिपादन किया गया है।

(१८) जब वेद स्वयम् ईश्वर प्रणीत हैं तो वे ईश्वर की सत्ता

का निषेध कैसे कर सकते हैं ?

(१९) यदि कोई नास्तिक अपने गुरु के वाक्य को प्रमाण मान कर ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है तो उसके गुरु को आप्त पुरुष और उसके वाक्यों को प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह व्यक्ति यथार्थदर्शी नहीं है। जैसे चक्षुविहीन किसी अंधे व्यक्ति को सूर्यदर्शन के विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता और न ही उसके 'सूर्य नहीं है'–इस वाक्य को भी प्रमाण माना जा सकता है।

(२०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अस्तित्व तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जावे।

(२१) जो अपने अस्तित्व के लिये स्वयम् परमुखापेक्षी हो वह उसीकी सत्ता का प्रतिषेध कैसे कर सकता है ? वह तो अपने मूलाधार पर स्वयम् आघात करने वाला ही कहा जायगा।

(२२) ईश्वर तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रकाशक तथा प्रवर्तक है, अतः सभी प्रमाण उसकी सत्ता की ओर चिल्ला २ कर संकेत कर रहे हैं।

(२३) ईश्वर एक है और सकल जगत् का उत्पादक स्वामी है। इतने पर भी वह सर्वथा निर्लेप निर्दोष और निरंजन है और इसीलिये सब को उपासनीय भी है।

(२४) वह ईश्वर महान् से महान् है और देवों का भी देव है– ईश्वर से बढ कर न तो किसी प्रकृति के विकार जड–तत्व में शक्ति है और न ही प्राणधारी किसी चेतन तत्व में। उसी परमेश्वर की शक्ति से ही सब चराचर जगत् में हलचल हो रही है।

(२५) अतः हम सब का कर्तव्य है कि हम अपने हृदय में ईश्वर का सच्चा विश्वास धारण करें और अत्यन्त श्रद्धा के साथ उसकी शरण में पहुंचें।

इति तृतीयः स्तवकः

अथ चतुर्थः स्तवकः

शंका—यह मान लिया जावे कि ईश्वर है और वह वेदका उपदेश देने वाला भी है और यह भी मान लिया जावे कि ईश्वरकी सत्ताका प्रतिषेध करने वाला प्रत्यक्ष आदि कोई प्रवल प्रमाण भी नहीं है तथापि इतने मात्र से ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर विषयकज्ञान, प्रमाण कोटि में नहीं आता। जब ईश्वर विषयक ज्ञान ही प्रमाण नहीं तो ईश्वर भी नहीं है।

देखना यह है कि प्रमाण का लक्षण क्या है? और यह लक्षण ईश्वर ज्ञान में पाया जाता है या नहीं, यदि पाया जाता है तो ईश्वर और ईश्वरविषयक ज्ञान भी प्रमाण कोटि में आ जायेंगे अन्यथा नहीं।

मीमांसक आपत्ति उठाता है कि जब ईश्वर नित्य है और सर्वज्ञ है तो वह सदा ही सब पदार्थों को जानता होगा—उस के विषय में यह कभी भी नहीं सोचा जा सकता कि किसी पदार्थ का ज्ञान उसको पहिले नहीं था कुछ काल के पश्चात् हुआ अथवा पहिले था अब नहीं है। जब ईश्वरवादी को यह स्वीकृत है तो ईश्वरज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि ईश्वरज्ञान पहिले से ही है परन्तु प्रमाण के लिये आवश्यक है कि वह ऐसे ज्ञान का साधक हो जो अगृहीतार्थ का ग्राहक हो अर्थात् उस ज्ञान का, जिस का अर्थ पहिले से ज्ञात न हो। ज्ञान का लक्षण ही—अगृहीतार्थ ग्राहित्वम् है। सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर को तो सभी पदार्थ पहिले ही ज्ञात हैं अतः ईश्वर का ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है और न ही ईश्वर का ज्ञान प्रमा कहला सकता है जिस को ज्ञान मान कर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जावे।

उत्तरः—अव्याप्तेरधिकव्याप्तेरलक्षणमपूर्वदृक्।
यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते॥ १॥

शब्दार्थ—अपूर्वदृक्-अज्ञात पदार्थ का दर्शन यह, अव्याप्तेः—अव्याप्ति दोषके पाये जाने से, अलक्षणम्-प्रमा अर्थात् ज्ञान का लक्षण नहीं है, अनपेक्षतया-किसी अपेक्षा के न होने से, यथार्थानुभवः—यथार्थ अनुभव ही, मानम्-प्रमाण, इष्यते-स्वीकार किया जाता है।

व्याख्या—प्रमा का लक्षण, अपूर्वार्थग्राहित्वम् अथवा अगृहीतार्थ-ग्राहित्वम् नहीं है क्योंकि यदि यह लक्षण माना जावे तो धारावाही ज्ञान में अव्याप्ति दोष उपस्थित होता है। धारावाही ज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पदार्थ को निरन्तर देखते रहने से लगातार बना रहता है इन्द्रिय और विषय के निरन्तर सन्निकर्ष के कारण जो पदार्थ की प्रतीति है उस प्रतीति में यह लक्षण नहीं घटता क्योंकि एक क्षण के अनन्तर प्रत्येक क्षण में उसी प्रकार का ज्ञान होता है और तब अपूर्वार्थग्राहित्व न होकर पूर्वार्थग्राहित्व ही स्पष्ट प्रतीत होता है। न केवल धारावाही ज्ञान में ही यह दोष आता है अपितु जिस पदार्थ को पहिले जान चुके हैं और वह कुछ काल से विस्मृत हो चुका है यदि पुनः उस पदार्थ को जाना जावे तो उस ज्ञान–गृहीतविस्मृतार्थ-पुनर्ज्ञान–में भी अव्याप्ति दोष आता है। जिससे 'धारावाही ज्ञान' और गृहीतविस्मृतार्थ पुनर्ज्ञान'–ज्ञान ही सिद्ध नहीं होते परन्तु इनका ज्ञानत्व तो सभी को अभीष्ट है. अतः अगृहीतार्थग्राहित्व ज्ञान का ठीक लक्षण ही नहीं है।

इस लक्षण में दूसरा दोष अतिव्याप्ति का है। अव्याप्ति के कारण जहां योग्य व्यक्ति का भी प्रवेश नहीं हो पाता और वह लाभ से वंचित रहता है वहां अतिव्याप्ति के कारण अयोग्य व्यक्ति भी प्रवेश पा जाता है और अनुचित लाभ उठा लेता है। 'अगृहीतार्थ ग्राहित्व' को यदि ज्ञान का लक्षण स्वीकार कर लिया जावे तो शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प की भ्रान्ति को भी ज्ञान मानना होगा। वह लक्षण सच्चा लक्षण ही नहीं है जिस में अधिकारियों का तो प्रवेश न हो सके और अनधिकारी वर्ग दनदना कर घुस पडे। भला ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो धारावाही ज्ञान को ज्ञान ही न माने और सर्वानर्थकारी रज्जुसर्पादि भ्रान्ति को ज्ञान मान बैठे। अतः अगृहीतार्थ ग्राहित्वम् न प्रमा लक्षणम्।

ज्ञान का सच्चा लक्षण तो वह है जिस में किसी दूसरे अनुभवान्तर की न तो अपेक्षा हो और न ही वह अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों से युक्त हो। ऐसा लक्षण एक ही हो सकता है और वह है यथार्थानुभवत्वम्—अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही जानना। इस लक्षण में कोई दोष ही उपस्थित होता है और न ही कोई भ्रान्ति ही प्रविष्ट हो सकती है। साथ ही इससे ईश्वर ज्ञान का

प्रमात्व भी सिद्ध हो जाता है और प्रामाण्य भी।

यदि कहा जावे कि स्मृति को भी प्रमा मानना होगा तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि स्मृति की उत्पत्ति में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है, परन्तु प्रमा अर्थात् ज्ञान का लक्षण यह कहा गया है कि जिस में किसी दूसरे अनुभव की अपेक्षा न हो और स्वयम् यथार्थ हो। स्मृति में यह बात नहीं है। कहा भी है-स्मृतिस्तु पूर्वानुभवसापेक्षा।

शंका—यह ज्ञान घटविषयक है और यह ज्ञान पटविषयक है-इस प्रकारके ज्ञानों का सम्बन्ध उन २ विषयों के साथ अवश्य होता है। जब यह बात है तो यह भी मानना होगा कि वह ज्ञान अपने २ विषय का उपकारक है क्योंकि यदि अपने २ विषय का उपकारक न होता तो मैं ने घट को जान लिया है, मैं ने पट को जान लिया है इत्यादि ज्ञानों में कोई भेद न होता। भेद स्पष्ट है अतः घट और ज्ञान के परस्पर विषय विषयी भाव सम्बन्ध से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के सम्बन्ध से घट में कुछ होता है और कुछ हुआ है। और वह है-मैं घट को जानता हूं या जान चुका हूं। क्या जान चुके हो ? घट को जान चुका हूं-यह ज्ञातता ही घट में आई है। जिस घट को नहीं जाना उस में नहीं आई है अतः ज्ञातता रूप उपकार को घट में अवश्य स्वीकार करना चाहिये। और जब तक विषय का ज्ञाता न हो तब तक न तो उस के ज्ञान की और न ही ज्ञाततारूप उपकार की ही उत्पत्ति हो सकती है और घटादि विषयों में जो ज्ञातता आई वह चेतन ज्ञाता पुरुष के ज्ञानरूप गुण से ही उत्पन्न हुई क्योंकि ज्ञाता पुरुष ही कहता है कि- मैंने घट को जान लिया है अथवा मैं घट को जान चुका हूं। इस से सिद्ध हुआ कि घट आदि में ज्ञातता की उत्पत्ति होती है और उस का उपादान होता है ज्ञाता पुरुष का ज्ञान।

उत्तर—स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥२॥

शब्दार्थ—स्वभावनियमाभावात्-स्वभाव नियम के अभाव के कारण, उपकारः-उपकार अर्थात् ज्ञातता की उत्पत्ति भी, दुर्घटः-सिद्ध नहीं की जा सकती, और सति अर्थे-वर्तमान अर्थ में, सुघटत्वे

अपि–उपकार की सिद्धि मान लेने पर भी, असति–अतीत और अनागत अर्थ में, अन्यथा–स्वभावनियम को स्वीकार किये विना, का गतिः क्या गति होगी ? अर्थात् स्वीकार किये विना कोई गति नहीं है।

व्याख्या—घट तथा ज्ञान में विषय विषयीभावरूप स्वरूप सम्बन्ध है–यह स्वभाव व्यवस्था सभी को मान्य है। यदि आप को यह मान्य नहीं है और उसी लिये उपकार की सिद्धि करना चाहते हो तो यह प्रयत्न सफल न हो सकेगा क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध से अतिरिक्त घट और ज्ञान में कोई अन्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। और यदि उपकार की सिद्धि के लिये स्वभावनियम को स्वीकार करके–तदेव तदीयम् अर्थात् यह ज्ञान घटीय है और यह ज्ञान पटीय है इस प्रकार उपकार कल्पना की जावे तो यह भी व्यर्थ की कल्पना है।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान अर्थ में उपकार को स्वीकार कर लेने पर भी अतीत और अनागत अर्थ के विषय में तो घट और ज्ञान का स्वरूप सम्बन्ध है—इस स्वभाव को माने विना तो निर्वाह ही नहीं हो सकता है क्योंकि अतीत और अनागत ज्ञान में विषय का ही अभाव होता है।

भाव यह है कि वर्तमान में घट को देखकर यह कहा जाता है कि मैं इस घट को जानता हूं। उस समय मैं होता हूं, घट होता है और मेरे में घट विषयक ज्ञान होता है। ज्ञान में विषय का सम्बन्ध स्पष्ट होता है और घट भी सामने वर्तमान होने से उस पर भी ज्ञान का प्रभाव कुछ मान लिया जा सकता है। परन्तु भूत काल के सम्बन्ध में यह बात नहीं होती उस समय मैं होता हूं और मुझ में घट विषयक ज्ञान होता है। परन्तु घट सामने विद्यमान नहीं होता। यही दशा अनागत भविष्यत् काल के विषय में भी है क्योंकि उस समय भी घट सामने नहीं होता। मैं घट को जान चुका हूं या जानूंगा—इन दोनों दशाओं के समय मेरे ज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध किसी घटरूप विषय से नहीं होता है क्योंकि उस समय घट पदार्थ अपने स्वरूप से मेरे सामने विद्यमान नहीं होता और जो विद्यमान ही नहीं है उस पर ज्ञान का क्या उपकार होगा ? और किस प्रकार का होगा ?—इस को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह बात तो अनुभव के भी विरुद्ध है कि ज्ञान से घटादि विषयों पर कुछ उपकार या प्रभाव पडता है। एक घट को दस व्यक्ति देख चुके हैं, दस देख रहे हैं और अनेकों देखेंगे। क्या उन सब के देखने की क्रिया का घट पर कुछ प्रभाव पडा है या पड सकता है? कहना होगा कुछ नहीं और सर्वथा नहीं। हम तो कहते हैं कि यह किसी भी युक्ति अथवा प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस घट में इस विकार या विशेषता को देखकर प्रतीत होता है कि इस को काली टोपी वाले ने देखा है और लम्बी मूंछों वाले ने भी देखा है। अतः यह मानना ठीक है कि ज्ञानमात्र से किसी पदार्थ में कोई विशेषता उत्पन्न नहीं होती।

शंका—जो क्रिया की जाती है उस का कर्म (कारक) पर अवश्य प्रभाव पडता है और पडना भी चाहिये जैसे कुल्हाडे से लकडी को फाडा जाता है या गेहूं को पीसा जाता है। फाडने की क्रिया का लकडी पर प्रभाव अवश्य पडता है और वह फट जाती है। पीसने की क्रिया का गेहूं पर प्रभाव पडता है और गेहूं पिस जाते हैं इस से सिद्ध होता है कि क्रिया का अपने कर्म पर अवश्य प्रभाव पडता है यह व्याप्ति नियम, जानने की क्रिया पर भी लागू होना चाहिये और ज्ञान का घट आदि विषय पर कोई प्रभाव पडना अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

उत्तर—अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा न च लिंगमिह क्रिया
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वात् नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—इह—उपरोक्त अनुमान में, क्रिया-क्रिया, लिंगम्-हेतु, न-नहीं स्वीकार की जा सकती। यदि क्रियात्व को हेतु मान कर व्याप्ति नियम को लागू किया तो, अनेकान्त्यात्-अनेकान्त हेत्वाभास होने का भी दोष लगेगा तथा, असिद्धेः-असिद्ध हेत्वाभास होने का भी दोष लगेगा, तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वात्-प्रमाता में कुछ विशिष्टता के प्रकट होने से अतिरिक्त, अधिके-कर्म से कुछ अधिकता आजाना मानने में, अध्यक्षानुभवः न-कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है।

व्याख्या—"जानना एक क्रिया है उस से घट में कुछ विशे-

षता उत्पन्न होती है क्रिया होने से। जो भी क्रिया होती है उस से कर्म में विशेषता उत्पन्न हुआ करती है जैसे काटने से लकड़ी में या पीसने से गेहूं में अतः जानने से भी घटादि में कोई विशेषता अवश्य उत्पन्न होती है"—यह है वह अनुमान जिस के बल पर घटादि में कोई विशेषता सिद्ध की जाती है।

इस अनुमान में 'क्रियात्वात्' अर्थात् क्रिया होने से यह हेतु दिया गया है, परन्तु हेतु ऐसा होना चाहिये जो अपने साध्य को ही सिद्ध करे—न कि अपने साध्य से भिन्न किसी अन्य को भी सिद्ध करे। क्रिया को हेतु मान कर यदि जानने की क्रिया के द्वारा घटादि में किसी विशेषता की उत्पत्ति मानी जावे तो अनेकान्त हेत्वाभास होने का दोष उपस्थित होगा क्योंकि संयोग आदि से आकाश में भी किसी विशेषता की उत्पत्ति माननी होगी। घर की छत, आकाश के साथ लगी हुई है—यही लगने अथवा जुडने रूपी क्रिया से आकाश में विशेषता या उपकार नामक कोई नवीन गुण उत्पन्न नहीं होता।

दूसरा दोष असिद्धि का है। विचारिये स्पन्दन क्या है? एक क्रिया ही तो है। परन्तु स्पन्द रूप क्रिया का ज्ञान रूप गुण में सर्वथा अभाव है। अतः ज्ञान में ऐसी क्रिया का अभाव होने से क्रियात्व हेतु ही नहीं रहा किन्तु हेत्वाभास ही सिद्ध हुआ हेत्वाभास भी—स्वरूप सिद्ध। जब ज्ञान में क्रियात्व ही नहीं तो उस के आधार पर घटादि विषयों में कोई विशेषता कहां से उत्पन्न हो सकेगी?

बात यह है कि ज्ञान के द्वारा प्रमाता में ही कोई विशेषता आती है किन्तु घटादि प्रमेय में कुछ नहीं होता। अतः इस अनुमान से यह सिद्ध नहीं होता कि जानना कोई क्रिया है और उस के द्वारा घट आदि कर्म में कोई विशेषता उत्पन्न होती है।

शंका—परन्तु अनुभव से यह स्पष्ट है कि जानने से कुछ अधिकता अवश्य आती है। जैसे—यह पदार्थ मैंने जान लिया है और इस पदार्थ को मैंने अच्छी प्रकार से साक्षात्कार कर लिया है। ये सामान्य और विशेष ज्ञान, घटादि पदार्थ में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अतः घटादि विषय के साथ विशेषण रूप में कुछ तो स्फुरता ही है। इस से नकार कैसे किया जा सकता है।

उत्तर—यह कल्पना भी ठीक नहीं है क्यों कि—

अर्थेनैव विशेषोहि निराकारतया धियाम्
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—जैसे धियाम्-ज्ञान में, निराकारतया-किसी आकार के सम्भव न होने से, अर्थेन एव-घट आदि अर्थ के कारण ही, विशेषः-विशेषता होती है। वैसे ही, कर्मणाम् व्यवहारेषु-कर्मकारक व्यवहारों में, क्रियया एव-क्रिया के कारण ही, विशेषः-विशेषता होती है।

व्याख्या—जानने से न तो घटादि पदार्थों में किसी प्रकार के आकार की उत्पत्ति होती है और न ही घटादि पदार्थों से ज्ञान में किसी प्रकार के आकार की उत्पत्ति होती है घट आदि भी जैसे के तैसे रहते हैं और ज्ञान पर कोई आकार नहीं खिंचता। घटज्ञान, पटज्ञान और तटज्ञान में उन २ पदार्थों का विशेषण मात्र लगता है-बस यही विशेषता है और कुछ नहीं, ऐसा नहीं कि घटादि किसी पदार्थ से कुछ निकल कर ज्ञान में लग जाता या चिपक जाता। ज्ञान तो निराकार अर्थात् किसी प्रकार के आकार से सर्वथा रहित है उसमें किसी पदार्थ के सम्बन्ध से किसी आकार की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे कि कर्म आदि कारकों के व्यवहारों में क्रिया के द्वारा विशेषता होती है।

एक बात और भी है, जैसे घट क्रिया और पट क्रिया आदि शब्दों का व्यवहार होता है वैसे ही कृतो घटः करिष्यते घटः अर्थात् घडा बनाया जायगा-इत्यादि शब्दों का भी व्यवहार होता है। ऐसे स्थलों में भूत और भविष्यत् काल से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया का आधार कौन है और क्रिया का सम्बन्ध भी कैसा?

बस ऐसे ही समझ लीजिये—घटज्ञान और पटज्ञान आदि के समान ही ज्ञातो घटः ज्ञास्यते घटः अर्थात् घडा जान लिया गया है और घडा जान लिया जावेगा-इत्यादि शब्दों का भी व्यवहार होता है।

अतः जो नास्तिक लोग, ज्ञातता का आश्रय लेकर ईश्वर ज्ञान के प्रामाण्य के मार्ग में कांटे विछाने का यत्न करते हैं उन का प्रयत्न भी निरर्थक सिद्ध होता है।

शंका—हम दूसरे प्रकार से ईश्वर ज्ञान को अप्रमाण सिद्ध कर सकते हैं। हम कहते हैं कि ईश्वरज्ञान, प्रमा अर्थात् ज्ञान ही नहीं है क्योंकि यदि प्रमा माना जावे तो प्रमा को क्रिया होने से कारकजन्य मानना होगा। और जो जन्य अर्थात् उत्पन्न होता है वह नित्य नहीं हो सकता—अतः ईश्वरज्ञान अनित्य हुआ और अनित्य होने से अप्रमाण हुआ, और यदि प्रमाण का अर्थ प्रमा करणम् अर्थात् प्रमा का साधन है तो ईश्वर के ज्ञान का कोई करण मानना होगा। जब ईश्वर को भी ज्ञानके लिये किसी साधन इन्द्रिय की आवश्यकता है तो उस का ईश्वरत्व कैसा ? वह तो शरीरधारी परिमित शक्तिवाला ही सिद्ध होता है और ऐसा ईश्वर आप को भी मान्य नहीं है अतः न तो ईश्वर का ज्ञान ही प्रमाण है और न ही कोई सर्वव्यापक ईश्वर के।

उत्तर—मितिः सम्यक् परिच्छित्ति तद्वत्ताच प्रमातृता
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—मितिः-प्रमा तो, सम्यक् परिच्छित्तिः सम्यक् ज्ञान अर्थात् यथार्थ अनुभव को कहते हैं। तद्वत्ताच-और उस ज्ञान वाले अभ्यासी को, प्रमातृता-प्रमाता कहते हैं, और तदयोगव्यवच्छेदः—उन का निरन्तर साथ रहना, गौतमे मते-महर्षि गोतम के मत में, प्रामाण्यम्-प्रामाण्य माना गया है।

व्याख्या—महर्षि गौतमने न्याय दर्शन में कहा है-मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । २-२-३७। अर्थात् जैसे मन्त्र और आयुर्वेद का प्रामाण्य किसी आप्त के कारण है वैसे ही ईश्वरज्ञान का भी प्रामाण्य है क्योंकि वह भी आप्त का ज्ञान है।

ईश्वर के विषय में और ईश्वर ज्ञान के विषय में अनित्यताका तथा कारण सापेक्षता का दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह नित्य है और कारणों की अपेक्षा नहीं रखता। कारणों अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा एक देशी परिमित व्यक्ति को होती है परन्तु ईश्वर तो सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है अतः एव अशरीरी है। उस का प्रामाण्य यह है कि वह सदा एक रस विद्यमान है और इसी लिये उस के ज्ञान में कालकृत अनित्यता और देशकृत परिच्छिन्नता नहीं है तथा

'संख्या विशेषात्' – से भी ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है यथा;

स्यामभूवं भविष्यामीत्यादि संख्याच वक्तृगा।
समाख्यापि न शाखानामाद्यप्रवचनादृते ॥ १७ ॥

भावार्थ — संख्या से सिद्ध होता है कि कोई वक्ता अपने विषय में कुछ कहता है। जैसे कोई कहे स्याम्, अभुवम्, और भविष्यामि —अर्थात् मैं होऊं, मैं था, और मैं हूंगा, इस प्रकार के कालिक क्रियापदों में वक्ता का प्रथम मध्यम उत्तम पुरुष होना तथा उसका एक होना भी सम्मिलित होता है – वक्ता कहता है कि मैं एक हूं और अमुक क्रिया को वर्तमान या किसी अन्य काल में करनेवाला हूं। इस से जहां यह सिद्ध हुवा कि अपने सम्बन्ध में संख्या का संकेत करने वाला कोई वक्ता है वहां यह भी सिद्ध हुवा कि वह एक परमेश्वर ही है जैसा कि वेद में स्वयम् कहा है–'अहं मनुरभवम्'–सृष्टि के आदि में उत्पत्यादिके नियमों का मनन करनेवाला अकेला मैं ही था, 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य'–सृष्टि के अटूट नियमों को सबसे प्रथम प्रकट करने वाला मैं ही हूं। 'मां हवन्ते पितरं न जन्तवः'—जैसे प्राणी अपने पिता को पुकारते हैं वैसे ही सकल संसार के जीव मुझको स्मरण करते हैं।

यदि यह कहा जावे कि यह संख्या तो काठक, कालाप और वाजसनेय आदि शाखाओं की ओर संकेत करती है–इस का परमेश्वर से सम्बन्ध नहीं है तो ऐसा मानना इस लिये ठीक नहीं कि काठक आदि शाखाओं का कोई आद्यमूल अवश्य होना चाहिये। यदि शाखाओं का मूल न माना जावे तो इनको 'शाखा' कैसे माना जावेगा? क्योंकि मूलके विना शाखाका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। अतः आद्य प्रवचन रूप मूल संहितायें हैं और उन का प्रवचनकर्ता परम हितकारी सर्वज्ञ ईश्वर है।

इस प्रकार ईश्वरसिद्धि के विषय में पूर्व पक्षवाले नास्तिकों की युक्तियों पर पुष्कल विचार करने के अनन्तर हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि–इस विचित्र कलामय जगत् का रचियता, पालयिता और संहर्ता तथा वेद का उपदेष्टा कोई सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ परमेश्वर अवश्य है अतः हम सबका परमकर्तव्य है कि उस

की अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से उपासना किया करे। अन्त में ग्रन्थकर्ता आचार्य ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैः भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैः भवच्चिन्तकाः
काले, कारुणिक ! त्वयव कृपया ते भावनीया नराः ॥ १८ ॥

भावार्थ—हमने वैदिक प्रमाणों की तथा सद्युक्ति समूह की झड़ी लगा कर अच्छी प्रकार से सिद्ध कर दिया है कि संसार में सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी परमेश्वर भी कोई अस्तित्व रखता है, परन्तु इतने प्रबल प्रयास करने पर भी जिन के कलुषित हृदय में परमेश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती—निश्चय से वे लोग भाग्यहीन हैं। उन के हृदय लोहे या वज्र के बने हुए हैं जो इतने पुष्कल प्रमाण देने पर भी पिघलने का नाम नहीं लेते। हे करुणानिधान भगवन् ! समय आनेपर आप ही उन उन्मार्ग गामियोंको सन्मार्ग दिखाकर शंका-पंक के कलंक से उन्मुक्त करने और नास्तिक्य के गहरे गर्त से बाहर निकालने का सामर्थ्य रखते हैं। हमारे में इतनी शक्ति कहां है कि हठी, दुराग्रही और निकृष्ट प्रकृति वालों की प्रकृति को छुडा कर तथा भयानक कठोर हृदयों को पिघला कर ईश्वर के भक्त बना सकें ?

अस्माकन्तु निसर्ग सुन्दर ! चिरात्चेतो निमग्नं त्वयी
स्यद्धानन्द निधे ! तथापि तरलं नाद्यापि संतृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रताम्
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥१९॥

भावार्थ—हे निर्दोष निरञ्जन भगवान् ! हमारा चित्त तो चिरकाल से आप के ध्यान में निमग्न है परन्तु हे आनन्द निधे परमेश्वर ! यह चित्त इतना प्यासा है कि इस की आज तक तृप्ति नहीं हुई। अतः हे नाथों के नाथ जगन्नाथ जगन्नियन्ता ! ऐसी कृपा कीजिये कि जिस से मेरा मन आप के आनन्द स्वरूप का सदा एकाग्रता के साथ ध्यान करता रहे और जन्ममरण के अनन्त क्लेश सन्तापों से छुटकारा पाकर मोक्ष सुख का भागी बने।

इत्येष नीति कुसुमाञ्जलिरुज्वलश्रीः
यद्वासयेदपि च दक्षिण वामकौ द्वौ ।
नो वा ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठ समर्पितेन ॥ २० ॥

भावार्थ—यह 'न्याय कुसुमाञ्जलि' अपने युक्ति कुसुमोंके सौन्दर्य से अत्यन्त आकर्षणयुक्त है। दायें बायें दोनों हाथोंकी अंजलि में ईश्वर सिद्धि के कुसुमों की सुगन्धी ऐसे ही रच जावे जैसे कुसुमों की सुगंधी वस्त्रों में रच जाती है । अथवा इस ग्रन्थ को पढकर आस्तिक और नास्तिक दोनों पक्ष ही सुवासित हो जावें अर्थात् आस्तिक परमभक्त हो जावें और नास्तिक नास्तिकता को छोडकर दृढ आस्तिक हो जावें। यदि कोई इस को पढ करके भी मनन नहीं करता और अपने जीवन को सुगन्धित नहीं बनाता तो न बनाये, तथापि यह कुसुमाञ्जलि तो इन्द्र के गुरु बृहस्पति या ब्रह्मा के भी गुरु गुरुओं के गुरु परम गुरु भगवान् परमेश्वर के ही पवित्र चरणारविन्दों में समर्पित की जा रही है,मेरी इस पुष्पाञ्जलि को परमेश्वर प्रसन्नता से स्वीकार करें यही मेरी प्रार्थना है।

ॐ ब्रह्मार्पणमस्तु ।

इति श्रीमदुदयनाचार्य प्रणीतम्
न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकरणं समाप्तम्
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

कुसुमाञ्जलिकारिकाः

प्रथमः स्तवकः ।

सत्पक्षप्रसरः सतां परिमलप्रोद्बोधबद्धोत्सवो
विम्लानो न विमर्दनेऽमृतरसंप्रस्यन्दमाध्वीकभूः ।
ईशस्यैष निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमाणं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः ॥१॥
स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः ।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते ॥२॥
न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥३॥
सापेक्षत्वादनादित्वाद्वैचित्र्याद्विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद्भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः ॥४॥
हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥५॥
प्रवाहो नादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् ।
तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वयव्यतिरेकयोः ॥६॥
एकस्य न क्रमः क्वापि वैचित्र्यञ्च समस्य न ।
शक्तिभेदो न चाभिन्नः स्वभावो दुरतिक्रमः ॥७॥
विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखैकफलापि वा ।
दृष्टलाभफला नापि विप्रलम्भोऽपि नेदृशः ॥८॥
चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना ।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतैरपि ॥९॥
भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः ।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः ॥१०॥
संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः ।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः ॥११॥
निमित्तभेदसंसर्गादुद्भवानुद्भवादयः ।
देवताः सन्निधानेन प्रत्यभिज्ञानतोऽपि वा ॥१२॥
जयेतरनिमित्तस्य वृत्तिलाभाय केवलम् ।
परीक्ष्यसमवेतस्य परीक्षाविधयो मताः ॥१३॥
कर्तृधर्मा नियन्तारश्चेतिता च स एव नः ।
अन्यथाऽनपवर्गः स्यादसंसारोऽथ वा ध्रुवः ॥१४॥
नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात् ।
वासनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥१५॥

वैजात्यं विना तत्त स्यात् न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिर्नाध्यक्षं निश्चयं विना ॥१६॥
स्थयदृष्टय नं सन्देहो न प्रामाण्ये विरोधतः।
एकतानिर्णयो येन क्षणे तेन स्थिरे मतः ॥१७॥
हेतुशक्तिमनादृत्य नीलाद्यपि न वस्तु सत्।
तद्युक्तं तत्र तच्छक्तमिति साधारणं न किम् ॥१८॥
पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ॥१९॥
इत्येषा सहकारिशक्तिरसमा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात् प्रकृतिः प्रबोधभयतोऽविद्येति यस्योदिता।
देवोऽसौ विरतप्रपञ्चरचनाकल्लोलकोलाहलः
साक्षात्साक्षितया मनस्यभिरतिंबध्नातुशान्तो मम ॥२०॥

--०--

अथ द्वितीयः स्तवकः।

प्रमायाः परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसम्भवात्।
तदन्यस्मिन्नविश्वासान्न विधान्तरसम्भवः ॥१॥
वर्षादिवद्भवोपाधिर्वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः ॥२॥
जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम् ॥३॥
कारं कारमलौकिकाद्भुतमयं मायावशात् संहरन्
हारं हारमपीन्द्रजालमिव यः कुर्वन् जगत् क्रीडति।
तं देवं निरवग्रहस्फुरदभिध्यानानुभावं भवं
विश्वासैकभुवं शिवं प्रति नमन् भूयासमन्तेष्वपि ॥४॥

--०--

अथ तृतीयः स्तवकः।

योग्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वायोग्यं बाध्यते शृङ्गं क्वानुमानमनाश्रयम् ॥१॥
व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता।
अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता ॥२॥
दृश्योपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता।
न तस्यां नोपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने ॥३॥
इष्टसिद्धिः प्रसिद्धांऽशे हेत्वसिद्धिरगोचरे।
नान्यासामान्यतः सिद्धिर्जातावपि तथैव सा ॥४॥
आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥५॥

दृष्ट्यदृष्ट्योर्न सन्देहो भावाभावविनिश्चयात् ।
अदृष्टिबाधिते हेतौ प्रत्यक्षमपि दुर्लभम् ॥६॥
शङ्का चेदनुमाऽस्त्येव न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥७॥
परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः ।
नैकताऽपि विरुद्धानामुक्तिमात्रविरोधतः ॥८॥
साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम् ॥९॥
सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥१०॥
सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतितः ।
समयो दुर्ग्रहः पूर्वं शब्देनानुमयापि वा ॥११॥
श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
पदार्थान्वयवैधुर्य्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः ॥१२॥
अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे च न निर्णयः ।
आकांक्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरबन्धना ॥१३॥
निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ॥१४॥
व्यस्तपुंदूषणाशंकैः स्मारितत्वात् पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत् कुतः ॥१५॥
न प्रमाणमनाप्तोक्तिर्नादृष्टे क्वचिदाप्तता ।
अदृश्यदृष्टौ सर्वज्ञो न च नित्यागमः क्षमः ॥१६॥
न चासौ क्वचिदेकान्तः सत्त्वस्यापि प्रवेदनात् ।
निरञ्जनावबोधार्थो न च सन्नपि तत्परः ॥१७॥
हेत्वभावे फलाभावात् प्रमाणेऽसति न प्रमा ।
तदभावात् प्रवृत्तिर्न कर्मवादेऽप्ययं विधिः ॥१८॥
अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाऽप्यसौ समः ॥१९॥
प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भाववेशाच्च चेतसः ॥२०॥
प्रतियोगिनि सामर्थ्याद्व्यापाराव्यवधानतः ।
अक्षाश्रयत्वाद्दोषाणामिन्द्रियाणि विकल्पनात् ॥२१॥
अवच्छेदग्रहभ्रौव्यादभ्रौव्ये सिद्धसाधनात् ।
प्राप्त्यन्तरेऽनवस्थानान्न चेदन्योऽपि दुर्घटः ॥२२॥

प्रत्यक्षादिभिरेभिरेवमपरो दूरे विरोधोदयः
प्रायो यन्मुखवीक्षणैकविधुरैरात्माऽपि नासाद्यते ।
तं सर्वानुविधेयमेकमसमस्वच्छन्दलीलोत्सवम्
देवानामपि देवमुद्भवदतिश्रद्धाः प्रपद्यामहे ॥२३॥

--०--

अथ चतुर्थः स्तबकः ।

अप्राप्तेरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वदृक् ।
यथार्थोऽनुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते ॥१॥
स्वभावनियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः ।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥२॥
अनैकान्तादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया ।
तद्वैशिष्ट्यप्रकाशत्वान्नाध्यक्षानुभवोऽधिके ॥३॥
अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम् ।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥४॥
मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता ।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥५॥
साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः ।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शंकोन्मेषकलंकिभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः ॥६॥

--०--

अथ पञ्चमः स्तबकः ।

कार्य्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥१॥
न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्विरोधो न, नासिद्धिरनिबन्धना ॥२॥
तर्काभासतयाऽन्येषां, तर्काशुद्धिरदूषणम् ।
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ॥३॥
स्वातन्त्र्ये जडताहानिः, नादृष्टं दृष्टघातकम् ।
हेत्वभावे फलाभावः, विशेषस्तु विशेषवान् ॥४॥
कार्य्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः ।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥५॥
उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या विश्वदृशः सती ।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः ॥६॥

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातो यतश्च सा ।
तज्ज्ञानं, विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथ वा ॥७॥
इष्टहानेरनिष्टाप्तेरप्रवृत्तेर्विरोधतः ।
असत्त्वात् प्रत्ययत्यागात् कर्तृधर्मो न सङ्करात् ॥८॥
कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया ।
यत्न एव कृतिः, पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥९॥
भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः ।
तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥१०॥
आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना ।
संख्येयमात्रलाभे तु साकांक्षेण व्यवस्थिति ॥११॥
अतिप्रसङ्गान्न फलं नापूर्वं तत्त्वहानितः ।
बदलाभान्न कार्यञ्च न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः ॥१२॥
असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधाऽपि गरीयसी ।
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥१३॥
हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः ।
अन्यत्र क्लृप्तसामर्थ्यान्निषेधानुपपत्तितः ॥१४॥
विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः ।
अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥१५॥
कृत्स्न एव च वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ ॥ १६ ॥
स्यामभूवं भविष्यामीत्यादौ संख्या प्रवक्तृगा ।
समाख्याऽपि च शाखानां नाद्यप्रवचनादृते ॥ १७ ॥
इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते ।
येषां नास्पदमादधासि हृदये तेशैलसाराशयाः
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥१८॥
अस्माकन्तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवामशतशो याम्याः पुनर्यातनाः ।१९

इत्येष नीतिकुसुमाञ्जलिरुज्वलश्री-
र्यद्वासयेदपि च दक्षिणवामकौ द्वौ।
नो वा, ततः किममरेशगुरोर्गुरुस्तु
प्रीतोऽस्त्वनेन पदपीठसमर्पणेन ॥ २० ॥

॥ इति कुसुमाञ्जलिकारिका: ॥

जो वस्तु जैसी है उसके विषय में वैसा ही यथार्थ अनुभव है। उस अनुभव का कभी योग नहीं होता और कभी व्यवच्छेद नहीं होता किन्तु सदा एकरस और नित्य वर्तमान रहता है, श्वेताश्वतर उपनिषत् में कहा है कि—

> न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
> न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
> परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

अर्थात् परमेश्वर न तो किसी का उपादान कारण है इसी लिये उस का कोई कार्य नहीं है और न ही उस का कोई करण अर्थात् इन्द्रिय है इसी लिये वह शरीर धारी भी नहीं है, परमेश्वर के समान व्यापक भी कोई नहीं है और शक्तिमान् भी नहीं है। जब ईश्वर के समान नहीं है तो उस से अधिक कौन होगा? ईश्वर से किसी गुणमें कोई अधिक भी दिखाई नहीं देता। इसी लिये उसकी शक्तियों का पार नहीं पाया जा सकता, श्रुतियों में सर्वत्र यही कहा गया है कि उस में विविध प्रकार की अनन्त शक्तियें हैं, और महान् आश्चर्य तो यह है कि उसमें ज्ञान बल तथा क्रिया सब कुछ स्वाभाविक हैं अर्थात् उस के अपने हैं और सदा से साथ चले आ रहते हैं।

अतः ऐसे परमेश्वर को और परमेश्वर के ज्ञान को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता उस की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

शंका—हम कहते हैं ईश्वर विषयक ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं है किन्तु रज्जुसर्प के समान भ्रान्ति मात्र है। जैसे सायंकाल के समय किसी स्थान पर पड़ी हुई रज्जु सर्पाकार सी प्रतीत होती है और वास्तव में देखा जावे तो वहां सर्प की गंध भी नहीं होती। इसी प्रकार आप को जगत् के विचित्र कार्यों को देखकर ईश्वर की भ्रान्ति हो रही है और जैसे भ्रान्त व्यक्ति भ्रान्ति कालमें रस्सी को सर्प समझ कर व्यवहार और विश्वास करता है वैसे ही आप लोग अपने आपको आस्तिक और ईश्वर विश्वासी समझे बैठे हैं परन्तु वास्तव में भ्रान्ति के जाल में फंसे हैं।

उत्तर—ईश्वर विषयक ज्ञान को अथवा विश्वास को रज्जु सर्पवत् भ्रान्ति ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि भ्रान्ति ज्ञान में जिस की भ्रान्ति होती है वह सर्प आदि पदार्थ संसार में अवश्य विद्यमान होते हैं यदि सर्पकी वास्तविक सत्ता न होती तो रस्सी को देख कर किसी को सर्प की भ्रान्ति भी न होती। यदि चान्दी की वास्तविक सत्ता न होती तो सांप को देखकर चान्दी की भ्रान्ति भी नहीं होती, इससे सिद्ध हुआ कि जैसे सर्प और चान्दी की वास्तविक सत्ता संसार में कहीं न कहीं है वैसे ही ईश्वर की भी सत्ता कहीं न कहीं अवश्य है।

अतः ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध करने तथा ईश्वरविषयक ज्ञान को भ्रान्ति ज्ञान सिद्ध करने के लिये रज्जुसर्प और शुक्तरजत का दृष्टान्त ठीक नहीं है अतएव अपने पक्ष का साधन न होने से दृष्टान्ताभास भी है। इन दृष्टान्ताभासों और हेत्वाभासों का आश्रय छोडकर सच्चे ज्ञान का आलम्बन करना चाहिये जिस से जगत् पिता परमात्मा की शरणमें पहुंच कर सब प्रकार के अज्ञानान्धकार से छुटकारा मिले और परम कल्याण की प्राप्ति हो।

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिल प्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टि निमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्ट शंका तुषः
शंकोन्मेषकलंकिभिः किमपरैः तन्मे प्रमाणं शिवः॥६॥

शब्दार्थ—अपरैः शंकोन्मेष कलंकिभिः—तुच्छ शंकाओं के कलंकों से, किम्—क्या भय है, मे शिवः तत् प्रमाणम्—मेरे लिये तो वह कल्याण स्वरूप ईश्वर ही परम प्रमाण है। जो लेशादृष्टि निमित्त दुष्टिविगम प्रभ्रष्ट शंका तुषः—अज्ञान और दोषों से सर्वथा रहित है तथा जिस में शंकाके तुच्छ तर्कों का प्रवेश तक असम्भव है और जिस के, साक्षात्कारिणि—साक्षात्कारी, नित्ययोगिनि—सदा एक रस तथा नित्य, परद्वारानपेक्षस्थितौ—इन्द्रियों की अपेक्षा से अतीन्द्रिय तथा भूतार्थानुभवे—प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ ज्ञान में,

निविष्ट निखिल प्रस्ताविधस्तुक्रमः—समस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों का कार्यक्रम निश्चित है।

व्याख्या—ईश्वर के ज्ञान पर और उस के प्रामाण्य पर कोई भी आक्षेप नहीं किया जा सकता क्योंकि वह ज्ञान नित्य और निर्दोष है, उस में सभी पदार्थों के साथ सदा से सम्बन्ध चला आ रहा है। यह ईश्वर के नाम का ही प्रताप है जिससे संसार के प्रत्येक विभाग में कठोर नियमों का शासन स्थापित है और उन नियमों के उल्लंघन करने का सूर्य आदि प्रवल देवों में भी सामर्थ्य नहीं है।

ईश्वर का ज्ञान किसी इन्द्रिय से जन्य भी नहीं है क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है और सर्व व्यापक को शरीर रहित होने से इन्द्रियों की आवश्यकता भी नहीं है, जितने दोष हैं वे सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान पर ही लागू होते हैं—अतीन्द्रिय ज्ञान पर नहीं।

ईश्वर में अज्ञान और अन्धकार का लेश नहीं है जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्—अर्थात् ईश्वर आदित्य के समान प्रकाश से भरपूर है, जैसे सूर्यमें अन्धकार का लेश नहीं है वैसे ही ईश्वर में अज्ञान का लेश भी नहीं है।

वैदिक ईश्वर में और उसके वैदिक ज्ञान में तथा ईश्वर विषयक विश्वास में शंका का लेश भी नहीं हो सकता है क्योंकि वह ज्ञान निर्दुष्ट है—उस में किसी दोष की सम्भावना ही नहीं है।

ईश्वर के विषय में आस्तिकों और नास्तिकों की से ओर जो शंकायें उपस्थित की जाती हैं उन में भी कोई सामर्थ्य नहीं हैं और न ही उनके वल पर वैदिक ईश्वरवाद को धमकाया जा सकता है, परमेश्वर तो सकल संसार का कल्याण करनेवाला है—उस का किसी देश किसी जाति और किसी सम्प्रदाय अथवा किसी मतमतान्तर के साथ पक्षपात या द्वेषभाव नहीं है। अत एव सब प्रकार के कलंकों से दूर तथा संसार के रचयिता परमेश्वर की पवित्र शरण में जाना चाहिये।

वह ईश्वर अपने विषय में और संसार के विषय में तथा संसार के प्रत्येक नियम के विषय में प्रबल प्रमाण है और स्वतः प्रमाण है।

जिस ईश्वर पर दोषों की बौछाड हो सकती है। और शरीरधारी

होने तथा जन्ममरण के प्रवाह में बहते रहने की कलंकित कल्पना लगाई जाती हैं—ऐसे असमर्थ एकदेशी और अल्पज्ञ कल्पित ईश्वर के साथ हम वेदानुयायिओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। हम उस को ईश्वर नहीं मानते हैं।

चतुर्थ स्तवक का संक्षिप्त सार

(१) अगृहीतार्थ ग्राहि होना–यह प्रमा का लक्षण नहीं हैं क्योंकि इस में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दो दोष पाये जाते हैं।

(२) प्रमा का सच्चा और निर्दुष्ट लक्षण है–यथार्थ ज्ञान वह ज्ञान प्रमा कहला सकता है जिसमें न तो कोई भ्रान्ति हो और न ही किसी अन्य अनुभव की बलवती अपेक्षा हो।

(३) ज्ञान या जानने के द्वारा किसी घट आदि ज्ञेय पदार्थ में कोई विशेषता तथा उपकार उत्पन्न नहीं होता जैसा कि काटने आदि किसी क्रिया से काष्ठादि में उत्पन्न होता है।

(४) जिस समय घट आदि पदार्थ वर्तमान होते हैं उस समय ज्ञान के साथ उन का सम्बन्ध होने से ज्ञाता उत्पन्न होता है परन्तु भूत और भविष्यत् काल के पदार्थों के वर्तमान न होने से कोई नया ज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

(५) क्रिया को हेतु मानकर 'जानने' को क्रिया कहना और क्रिया का कर्म पर कुछ परिणाम मानना ठीक नहीं हैं क्यों कि क्रिया को हेतु मानने से अनेकान्त और असिद्धि के ही भयानक दोष उपस्थित होते हैं।

(६) जानने से घटादि में तो कुछ भी परिणाम या विशेषता उत्पन्न नहीं होती और न ही प्रत्यक्ष से कुछ विशेषता के हो जाने का पता ही लगता हैं, इतना अवश्य है कि जानने वाले के ज्ञान में एक विशेषण की विशेषता अवश्य हो जाती है।

(७) पदार्थों में जिस प्रकार किसी क्रिया से विशेषता हो जाती हैं पदार्थों में वैसी कोई विशेषता, 'जानने' से उत्पन्न नहीं होती।

(८) सम्यक् अर्थात् यथार्थ ज्ञान का नाम ही 'प्रमा' है और उस ज्ञान से सम्पन्न होना ही प्रमाता होना है। परमेश्वर में वह ज्ञान

सदा से सदा तक रहता है। गौतम ऋषि के विचार से ईश्वर ज्ञानका प्रामाण्य इसी लिये है।

(९) ईश्वर का ज्ञान नित्य है, यथार्थ है, साक्षात्कार है और सकल संसार के पदार्थों का है। इसके साथ ही वह इन्द्रियजन्य भी नहीं है। ऐसा निर्दुष्ट और अनूपम ज्ञान ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के पास है भी नहीं।

(१०) ईश्वर के ज्ञान में सकल संसार एक सुदृढ शृंखला में बंधा हुआ गति कर रहा है।

(११) वे और होंगे जो शरीरधारी और एकदेशी होते हुए भी ईश्वर नामसे पुकारे जाकर अनेक प्रकार की शंकाओं से कलंकित किये जाते हैं। हमारा वेद सम्मत ईश्वर तो सर्वव्यापक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् निराकार है—इसपर कोई कलंक नहीं लगाया जा सकता, उस को स्पर्श करने से पहिले ही शंकाओं का कचूमर निकल जाता है और शंका करने वालों का अभिमान चूर हो जाता है।

(१२) ईश्वर सकल संसार का कल्याण कर्ता है अतः वह सब का आराधनीय है।

इति चतुर्थः स्तवकः ॥

अथ पंचमः स्तवकः

नास्तिक कहता है कि परलोक का साधन अदृष्ट को स्वीकार कर लिया और उस के साधक यागादि पुण्य कर्मों को भी मानलिया तथा यह भी मान लिया कि ईश्वर की सत्ता का प्रतिबंध करने वाला कोई बाधक प्रमाण नहीं और यह भी मान लिया कि ईश्वर विषयक ज्ञान यथार्थ ज्ञान है-रज्जुसर्पवत् भ्रान्तिमात्र नहीं है तथापि इतने मात्र से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता, ईश्वर की सत्ता को तो तभी स्वीकार किया जा सकता है जब वह प्रबल प्रमाणों और युक्ति तर्क से सिद्ध किया जावे।

यही नहीं, नास्तिक तो प्रायः यहां तक कह दिया करते हैं कि ईश्वर की सिद्धि में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है परन्तु नास्तिकों को कोई प्रबल प्रमाण यदि दिखाई नहीं देता तो इस में प्रमाण का क्या दोष है ? अंधेको यदि सूर्य दिखाई नहीं देता तो इसमें सूर्य का क्या दोष है ? अंधा कहता रहे सामने कुछ नहीं है परन्तु सामने की दीवार अंधे का सिर तोडने की शक्ति रखती है। निरुक्त में कहा भी है—

"नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति" अर्थात् यदि अंधा सामने के स्थाणु को नहीं देख सकता तो यह स्थाणु का अपराध नहीं है यह तो अंधे का ही अपराध है।

लीजिये, अब हम वे प्रमाण और युक्तियें उपस्थित करते हैं जिन से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है तथाहि—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥१॥

शब्दार्थ—कार्ययोजनधृत्यादेः—कार्य, आयोजन और धृति आदि से, पदात्-पद से, प्रत्ययतः—प्रत्ययसे श्रुतेः—श्रुति से, वाक्यात्—वाक्य से, संख्याविशेषात् च— और संख्याविशेषसे, विश्ववित्-सर्वज्ञ, अव्ययः—अविनाशी ईश्वर, साध्यः—सिद्ध किया जा सकता है।

व्याख्या—कार्य आयोजन आदि उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि इस जगत् का रचने वाला कोई सर्वज्ञ अविनाशी परमेश्वर अवश्य है। कारिकामें कार्य आदि आठ हेतु ईश्वर सिद्धि में दिये गये हैं। इन में से प्रत्येक हेतु की व्याख्या की जाती है यथा—

पहिली युक्ति 'कार्यत्व'

जगत् एक कार्य है अतः इसका कोई कर्ता रचयिता होना चाहिये। वेद में यत्र तत्र इस युक्ति का महत्व वर्णन किया गया है जैसा कि मन्त्र है—

ॐ मा नो हिंसीत् जनिता यः पृथिव्याः
यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्राः बृहतीः जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ. १०-१२-९।

अर्थात् वह परमेश्वर हम को न मारे-जिसने पृथिवी को उत्पन्न किया है। जिस सत्यधर्मा अटल नियमों वाले ने इस तारों से भरपूर द्युलोक को उत्पन्न किया है, और जिसने छोटे २ चमकने वाले अणुओं के महान् पुञ्ज आकाशगंगा को उत्पन्न किया है। हम उस कल्याणकारी जगत् कर्ता परमेश्वर की श्रद्धाभक्ति से उपासना करें।

इस मंत्र में कहा गया है कि—

(१) पृथिवी एक कार्य है उस को बनाने वाला परमेश्वर है।

(२) द्युलोक के तारे भी कार्य हैं उन की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर है।

(३) सूक्ष्म अणु जैसे छोटे दिखाई देनेवाले सुदूरवर्ती तारों का समूह—आकाशगंगा भी एक कार्य है और उस का रचनेवाला भी परमेश्वर है।

(४) परमेश्वर परम कल्याणकारी है अर्थात् ईश्वरने सम्पूर्ण जगत् को जीवों के कल्याण के लिये रचा है।

(५) हमारा कर्तव्य है कि हम उस परमेश्वर पर अटूट श्रद्धा रख और पवित्र भाव से निरन्तर स उकी भक्ति करें।

इस पर विशेष विचार करने से पहिले एक और मन्त्रपर ध्यान देना आवश्यक है, जिसमें कार्यत्व हेतु से कर्तृत्व का अनुमान करने के लिये विशेष सामग्री का वर्णन किया गया है। मन्त्र यह है—

ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन देव एकः ॥

ऋ. १०-८१-३

अर्थात् परमेश्वर, विश्वतश्चक्षुः-सब दिशाओं के वृत्तान्त को जानने वाला सर्वज्ञ है । उत विश्वतोमुखः—और सभी दिशाओं के वर्तमान प्राणियों को प्रेरणा देनेवाला सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी है । उत विश्वतो बाहुः—और वह सभी दिशाओं के कर्मों का अध्यक्ष है । उत विश्वतस्पात्-और सर्वशक्तिमान् है । एकः देवः—वह परमेश्वर अपने आपमें परिपूर्ण है । वह स्वरूप से एक है और अकेला ही सम्पूर्ण जगत् का संचालन करता है क्योंकि वह देव अर्थात् सकल दिव्य शक्तियों का एकमात्र स्वामी है । द्यावाभूमि—जब वह परमेश्वर द्युलोकस्थ नक्षत्रमंडल और पृथिवी लोक को, जनयन्—रचने का उपक्रम करता है तो, बाहुभ्याम्—अपनी दो महान् शक्तियों (ज्ञान और प्रयत्न) के द्वारा संधमति—घोर संघर्ष करता है अर्थात् जैसी रचना रचना चाहता है वैसी धारणा निश्चित करता है और तदनुकूल वैसी रचना रचने के योग्य प्रयत्न करता है । पतत्रैः संधमति—और वह जगत् के उपादान स्वरूप परमाणु समूह को गति देकर संघर्ष की ओर धकेल देता है।

इस मंत्र में कहा गया है कि—

(१) परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्व शक्तिमान् और कर्माध्यक्ष तथा फल प्रदाता है।

(२) परमेश्वरने द्युलोक के नक्षत्रों और तारों को तथा इस पृथिवी लोक को उत्पन्न किया है।

(३) सकल जगत् को उत्पन्न करने से पहिले, परमेश्वरने अपने ज्ञान से निर्माण किया कि किस लोक को तथा उस लोक के पदार्थों को कैसा और किस प्रकार का बनाना चाहिये।

(४) इस के साथ ही परमेश्वरने यह भी निश्चय किया कि किस लोक और उस लोक के पदार्थों को कितने तथा किस प्रकार के प्रयत्न से बनाना चाहिये।

(५) यह सब निर्धारित करके परमेश्वरने जगत्‌के उपादान कारण स्वरूप प्रकृति अर्थात् परमाणु पुञ्ज को विशेष गति दे कर रचना का वर्तमान रूप प्रदान करने के लिये संघर्ष के अथाह सागर की ओर धकेल दिया।

मन्त्रके गम्भीर भावों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि पृथिवी और द्युलोक की रचना हुई हैं और ये भी घटादि कार्यों के समान किसी रचयिता के द्वारा रचे गये हैं। जैसे घटादि कार्यों की उत्पत्ति मृत्तिका आदि किसी उपादान कारण अर्थात् समवायी कारण Material Cause से होती है और वह कारण स्वतन्त्ररूप से कभी स्वयम् कार्य नहीं बनता, वैसे ही पृथिवी आदि लोक लोकान्तर रूप कार्यों की उत्पत्ति भी किसी उपादान या समवायी कारण से हुई है, वेद के शब्दों में वह कारण 'पतत्र' अर्थात् परमाणु समूह हैं।

उपादान या समवायी कारण का लक्षण ही यह है कि जो कार्य की उत्पत्ति से पहिले वर्तमान हो और साथ ही कार्य में रह कर अपने स्वरूपका त्याग न करे, घटादि मृत्तिका के कार्यों में मिट्टी उपादान समवायी है क्योंकि घडे बनने से पहिले थी और घडे के बनाने के लिये उसकी परमावश्यकता थी, मिट्टी, घडे के वर्तमान काल में मिट्टी के रूप में बराबर वर्तमान रहती है, घडा टूट फूट कर नष्ट हो जावे तो भी मिट्टी बनी रहेगी; पीतल के बर्तनों में पीतल और काष्ठके मेज कुरसी आदि पदार्थों में काष्ठ ही समवायी कारण है तथा कागज के बने पत्र, लिफाफा और पुस्तक आदि का समवायी उपादान कागज ही है। इसी प्रकार जगत् के पदार्थों का समवायी कारण परमाणु समूह है—परमाणु पुञ्ज से ही पृथिवी आदि बने हैं और परमाणु पुञ्ज के रूप में ही वर्तमान हैं, जिस प्रकार मृत्तिका को त्याग कर घटादि मृत्तिका के कार्यों का तथा काष्ठ को त्याग कर कुरसी मेज आदि काष्ठ के कार्यों का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता किन्तु उन की स्थिति से मृत्तिका और काष्ठ का अस्तित्व मानना पडता है वैसे ही परमाणु पुञ्जको न मान कर पृथिवी आदि कार्यों का अस्तित्व

सिद्ध नहीं होता किन्तु पृथिवी आदि की स्थिति से परमाणु पुञ्ज का समवायी कारण के रूप में अस्तित्व स्वीकार करना पडता है।

पृथिवी आदि के कार्य होने का पहिला हेतु यह है कि इन के अन्दर इनका समवायी परमाणु पुञ्ज निरन्तर विद्यमान है और यह व्याप्ति अर्थात् व्यापक नियम है कि जिस पदार्थ में जो पदार्थ समवाय सम्बन्ध से निरन्तर विद्यमान होता है वह अवश्यमेव उसका कार्य होता है, जैसे घटादि में मृत्तिका और भूषणों में सोना अथवा चान्दी बराबर विद्यमान रहते हैं–घडा आदि कहीं चले जावें मृत्तिका कारण रूप में बराबर साथ जायेगी, भूषण कहीं चले जावेंसोना चान्दी कारणरूप में उनके साथ बराबर जावेंगे। ऐसे ही पार्थिव पदार्थ और पृथिवी आदि कहीं पर हों किसी भी परिस्थिति में क्यों न हों परमाणु पुञ्ज उनके कारणरूपमें बराबर उनके अन्दर विद्यमान रहेंगे–ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पृथिवी और पार्थिव पदार्थ तो हों और उनके परमाणु न हों, यही पृथिवी आदिका कार्यत्व है अर्थात् उनके कार्य होनेकाप्रबल प्रमाण है। इसी लिये कार्य का लक्षण किया गया है–सावयवत्वम्।

यदि कहा जावे कि कारण रूपसे समवायी पहिले भी था और कार्यमें भी निरन्तर विद्यमान रहता है तो फिर कार्यत्व क्या हुआ? तो सुनिये, कारण और कार्य में महान् अन्तर यह है कि समवायी कारण को लेकर जब कोई निश्चित रूप दे दिया जाता है तो वह ही कार्य बन जाता है, जैसे मृत्तिका को लेकर दण्डचक्र आदि की सहायता से कोई कुम्भार विशेष २ आकार प्रकारवाले घटादि पदार्थ बनाता है, कुम्भार आदि निमित्त कारण कोई चेतन व्यक्ति जब मिट्टी आदि कारण को लेकर अपने ज्ञान प्रयत्नके अनुसार मिट्टी को विशेष रूप प्रदान करता है तो वह पदार्थ, कारण से कार्य रूप में परिणित हो जाता है। अर्थात् समवायी कारण तो रहता है परन्तु उसमें आकार प्रकार की कुछ विशेषता आ जाती है इसी लिये वह विशेष लाभकारी और उपयोगी हो जाता है, मिट्टी यदि चूर्ण या पिण्डाकार रहे तो घडे की योग्यता नहीं रहती, उसके अन्दर दूध, जल अथवा आटा आदि कुछ रख नहीं सकते, काष्ठ यदि पिण्डाकार पडा रहे तो अलमारी और सन्दूक तथा पेटी का कार्य नहीं कर सकता, उसके

अन्दर कोई वस्तु नहीं रखी जा सकती, सोना यदि पिण्डाकार पड़ा रहे तो उसमें भूषणों की उपयोगिता नहीं होती, सोनेकी डली को कान, नाक गले, और अंगुली आदिमें धारण नहीं किया जा सकता अतः उपयोगितावाद की दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि घट और भूषण आदि कार्यों में अपने कारण से कुछ विशेषता और विचित्रता अवश्य होती है।

न केवल आकार प्रकार और उपयोगिता ही कार्य में अधिक होती हैं अपितु कार्य का मूल्य भी कारण से अधिक होता है, यदि सोना एक सौ रुपया तोला है तो सोनेके भूषण एक सौ पचीस रुपये तोला के मूल्य से मिलते हैं। यह कार्य की विशेषता समवायी कारण की विशेषता नहीं है किन्तु इसका कारण चेतन कर्ता के कारण ही होती है। चेतन कर्ता अपने ज्ञान और प्रयत्न से मिट्टी सोना आदि समवायी कारणों में विशेषता भर देता है, यदि कुम्भार सुनार आदि चेतन कर्ता अपने कला ज्ञान और प्रयत्न का प्रयोग न करें तो मिट्टी आदि में उपयोगिता की उत्पत्ति नहीं हो सकती, जगत् में भी कार्यत्व की विशेषता पाई जाती है अतः इसका कारण और निमित्त भी कोई चेतन कर्ता होना चाहिये, और वह है परमेश्वर।

शंका—सुनार कुम्भार आदि जितने कर्ता देखने सुनने में आते हैं वे सब शरीरधारी हैं इस से तो यह सिद्ध होता है कि जगत् का कर्ता ईश्वर शरीरधारी है।

उत्तर—न बाधोऽस्योपजीव्यत्वात् प्रतिबन्धो न दुर्बलैः
सिद्ध्यसिद्ध्योः विरोधोनो नासिद्धिरनिबन्धना ॥ २ ॥

शब्दार्थ—उपजीव्यत्वात्—उपजीव्य होने के कारण, अस्य—कार्यत्व हेतु का बाधः न—बाध नहीं हो सकता अर्थात् इस हेतु को बाधित हेत्वाभास नहीं कह सकते। इसलिये दुर्बलैः—प्रति हेतुओं के दुर्बल होने के कारण उन के द्वारा, प्रतिबन्धः न—कर्तृत्वानुमान का मार्गावरोध नहीं किया जा सकता हैं। सिद्ध्यसिद्ध्योः—सिद्धि या असिद्धि कुछ भी स्वीकार करलेने पर प्रकृत पक्ष में, विरोधः न—किसी प्रकार का विरोध नहीं आता अर्थात् कार्यत्व हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास

भी नहीं कहा जा सकता। तथा आनिबन्धना—उपाधिरूप निबन्धन के न होने से इस हेतु की, असिद्धिः न— असिद्धि भी नहीं कही जा सकती अर्थात् असिद्धि को दोष देकर आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास भी नहीं कह सकते।

व्याख्या—वही हेतु अपने पक्ष को सिद्ध करने में समर्थ होता है जिस में कोई दोष न हो, हेतु के दोष भी अनेक होते हैं प्रत्येक दोष का उदाहरण सहित वर्णन न्यायशास्त्र में भली भान्ति किया गया है। यहां संकेतरूप से समयानुसार वर्णन किया जायगा जिस से आशय समझने में उलझन उत्पन्न न हो।

जो लोग कार्यत्व हेतु को सुनकर शरीर का प्रसंग उपस्थित करते हैं उन से पूछा जाना चाहिये कि उनका आशय क्या है? क्या वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सुनार आदि कर्ता शरीरधारी हैं अतः जगत् का कर्ता भी शरीरधारी होना चाहिये। यदि ऐसा कह कर वे ईश्वर की सत्ता का प्रतिषेध करते हैं तो उनका हेतु आश्रयासिद्ध है क्योंकि जब ईश्वररूप पक्ष ही नहीं है तो उस के विषय में शरीरधारी होना या शरीर रहित होने का कोई अर्थ ही नहीं है।

यदि कहा जावे कि शरीरधारी न होने से ईश्वर जगत् कर्ता नहीं है तो यह अनुमान भी ठीक नहीं क्योंकि इस में भी आश्रयासिद्धि दोष विद्यमान है। जब ईश्वर ही नहीं है तो 'अशरीरित्वात्' यह हेतु ही व्यर्थ हुआ।

यदि कहा जावे कि जैसे आप कहते हो कि कार्य रूप जगत् का ईश्वर कर्ता अवश्य है-हम भी यह मानते हैं कि जगत् का कर्ता ईश्वर है परन्तु वह शरीरी है। तो यह अपसिद्धान्त है अर्थात् अपने नास्तिक मत का आप ही खण्डन करना कहलायेगा तथा अपनी प्रतिज्ञाका विरोध भी होगा-ये दोनों शास्त्रार्थ में पराजय के चिह्न हैं और इसी लिये निग्रह स्थान कहलाते हैं।

यदि कहा जावे कि हमारा आशय यह है कि पृथिव्यादि कार्य ही नहीं हैं क्योंकि वे शरीरधारी के रचे हुए नहीं हैं-क्षित्यादिकम् अकार्यम् शरीराजन्यत्वात्-तो यह अनुमान भी ठीक नहीं क्योंकि यह हेतु बाधित हेत्वाभास है। इस का प्रत्यक्ष से बाध होता है।

कार्य के सभी लक्षण पृथिवी आदि में पाये जाते हैं और यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है। यदि कोई अग्निको शीतल सिद्ध करने के लिये अनुमान दे कि जो वर्तमान होता है वह जलके समान शीतल होता हैं, अग्नि भी वर्तमान है अतः वह भी शीतल है तो यह अनुमान अग्नि को शीतल सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है क्योंकि इसका हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है—प्रत्यक्ष प्रमाण से अर्थात् स्पर्श करने से सिद्ध होता है कि अग्नि शीतल नहीं है किन्तु गरम है। ऐसे ही प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि पृथिवी आदि कार्य हैं अतः अकार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष बाधित होने से हेत्वाभास है और अपने पक्ष का साधक नहीं और इसी लिये हमारे अनुमान का बाधक भी नहीं है अपितु प्रकारान्तर से साधक ही हैं।

यदि कहा जावे कि-क्षित्यादिकम् अकर्तृकम् शरीराजन्यत्वात् अर्थात् पृथिव्यादिका कोई रचनेवाला नहीं है क्योंकि वे शरीर से रचे जाने के योग्य नहीं है। तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस अनुमान में भी भयंकर दोष है। 'शरीरा जन्यत्व हेतु में शरीर का विशेषण व्यर्थ होने से व्याप्यत्वासिद्धि दोष है। यदि 'शरीर' विशेषण को त्याग कर अजन्यत्वात् कहो तो फिर स्वरूपसिद्धि से बच नहीं सकते।

यदि कहा जावे कि आपके अनुमान की व्याप्तिका स्तम्भन करने के लिये केवल विपरीत व्याप्तिमात्र का प्रदर्शन करना ही हमारा उद्देश्य है तो यह उद्योग भी बुद्धिमत्ता से रहित है क्योंकि केवल विरोध करना और व्यर्थ में तत्वज्ञानके मार्ग में बाधा पहुंचाना विद्वानोंका कार्य नहीं है।

अतः इन दुर्बल युक्तियों से 'कार्यत्व' हेतु को हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता है। आप जितना भी इस पर विचार करें यह हेतु उतना ही ईश्वर के कर्तृत्व का साधक सिद्ध होगा।

अब थोडासा विचार 'शरीर जन्यत्व ' पर भी कर लेना चाहिये, नास्तिक यदि यह कहता हैं कि जो कर्ता होता हैं वह शरीरधारी भी अवश्य होता है अतः यदि जगत् का कर्ता ईश्वर है तो वह भी शरीरधारी ही होगा और यदि शरीरधारी ही मानना है तो वह एक देशी, परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और जन्म मरण वाला ही सिद्ध होगा क्योंकि कोई भी शरीरधारी, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ और सर्व शक्ति मान्

नहीं होता—यह व्यापक नियम है। अतः इतने बडे ब्रह्माण्ड को कोई शरीरधारी अकेला या समस्त संसार के शरीर धारी मिल कर भी रच नहीं सकते। इस से भी यही परिणाम निकला कि जगत् का कोई कर्ता नहीं।

इसका उत्तर तो यह है कि जगत् का कर्ता अवश्य है और वह ईश्वर है। हां यह बात सर्वथा सत्य है कि शरीरधारी व्यक्ति जगत् की रचना नहीं कर सकता अतः ईश्वर शरीरधारी भी नहीं है। रह गया कर्ता होनेके लिये शरीरधारी होना' यह भी एक विचारणीय विषय है। हमारा कहना है कि "कर्ता होने के लिये शरीरधारी होना आवश्यक नहीं है किन्तु ज्ञान इच्छा और प्रयत्न का होना ही आवश्यक है। यदि कहा जावे कि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिस से सिद्ध हो कि विना शरीर के केवल ज्ञान इच्छा और प्रयत्न से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है तो लीजिये हम आपको दृष्टान्त भी दे देते हैं। ध्यान दीजिये—

आप जब उठ कर चलने या दौडने लगते हैं तो यह चलने और दौडनेकी क्रिया टांगोंमें होती है। विचार कीजिये, टांगोंको कौन दौड़ाता है। क्या आप अपनी टांगों को अपने हाथों से पकडकर हिलाते चलाते और दौडाते हैं ?नहीं। तो क्या कोई दूसरा व्यक्ति आपकी टांगोंको अपने हाथों से पकड कर हिलाता है ? नहीं। फिर आपकी टांगों को,कौन गति देता है ? मानना होगा कि आप स्वयम् ही अपनी टांगों को, हाथों को आखों को जिह्वा को और शरीर के अंग प्रत्यंग को गति देते हैं और गति भीदेते हैं तो विना हाथों आदि की सहायता लेकर। अतः जैसे आपका आत्मा आपके शरीर को विना शरीरके अनेक प्रकार की गति देता है वैसे ही परमेश्वर भी जगत् के अणु अणु को गति देकर क्रिया शील करता है और जैसे आपका आत्मा हाथ पैर जिह्वा आदि अंगों के अत्यन्त समीप होने से गति देने में समर्थ होता है वैसे ही परमेश्वर भी जगत् के अणु २ के अन्दर व्यापक होने अर्थात् अत्यन्त निकट होने से जगत् को गति देता है।

अतः ईश्वर को जगत्का कर्ता मानने में न तो शरीर की उपाधि खडी करके कोई उपाधि की जा सकती है और न ही कार्यत्व हेतु को दूषित सिद्ध किया जा सकता है। सार यह है कि—

तर्काभासतयाऽन्येषां तर्काशुद्धिरदूषणम्
अनुकूलस्तु तर्कोऽत्र कार्यलोपो विभूषणम् ॥३॥

शब्दार्थ—अन्येयाम्—विरोधी तर्कों के, तर्काभासतया—तर्काभास होने के कारण, तर्काशुद्धिः—तर्क के प्रति तर्कों का प्रतिघात, अदूषणम् दूषण नहीं हैं। अत्र—यहां अर्थात् कार्यत्व अनुमान से, कार्यलोपः—यदि कर्ता न हो तो कार्य की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अनुकूलः तर्कः—यह अनुकूल तर्क तो, विसषणम्—विशेष भूषण है अर्थात् हमारे अनुमान का विशेष सहायक है

व्याख्या—कार्यत्व हेतु को लेकर पृथिव्यादि का ईश्वर कर्ता है—इस अनुमान का खण्डन करने के लिये नास्तिकों की ओर से जो आपत्तियें उठाई जाती हैं वे सब तर्क नहीं किन्तु तर्काभास होते हैं-देखने सुनने में तो तर्क प्रतीत होते हैं परन्तु छल और कपट से लिपटे होने के कारण वास्तव में वे तर्काभास होते हैं। उनका उद्देश केवल दूसरे लोगों की आंखों में धूल झोंकना और आस्तिकों को विचलित करना मात्र होता है। अन्यथा तर्क तो तत्वज्ञान के लिये शुद्ध भावना से कारण की जिज्ञासा करने के उद्देश्य से किया जाता है।

नास्तिक कहता है यदि सकर्तृकंस्यात् शरीर जन्यस्यात्-यदि पृथिवी आदि किसी रचयिता से रचे गये होते तो अवश्य शरीर द्वारा ही रचे गये होंगे। (२) यदि बुद्धिमत्पूर्वकं स्यात् अनित्य प्रयत्न जन्यं स्यात्—यदि पृथिवी आदि किसी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा रचे गये होते तो अनित्य प्रयत्न से उत्पन्न हुए होंगे।

(३) यदि नित्यकृनि जन्यंस्यात् बुद्धिच्छाजन्यं न स्यात्—यदि नित्य प्रयत्न से उत्पन्न हुए होते तो ज्ञान तथा इच्छा से उत्पन्न नहीं हुए होंगे इत्यादि। नास्तिक के इन प्रतितर्कों को इस लिये तर्काभास कहा जाना चाहिये कि इन में जो हेतु दिये गये हैं वे हेतु नहीं किन्तु हेत्वाभास हैं।

इनके उत्तर के लिये जब यह कहा जाता है कि-यदि क्षित्यादौ सकर्तृकत्वं न स्यात् तर्हि कार्यत्वं न स्यात्-पृथिवी आदि यदि किसी कर्ता से रचे हुए नहीं हैं तो इनमें कार्यत्व भी नहीं होना चाहिये। परन्तु कार्यत्व तो है अर्थात् इनके कार्य होने का बाध नहीं किया जा

सकता। यह जो तर्कशुद्धि और अपने तर्क के विरोधी प्रतितर्कों पर प्रतिघात करने के लिये प्रयुक्त की जाती है—यह तर्काभास नहीं है किन्तु दूषण न होकर भूषण स्वरूप है अर्थात् हमारे कर्तृत्व अनुमान की पोषक तथा सहायक है।

कार्यमात्र के लिये जैसे समवायी कारणों की आवश्यकता होती है वैसे ही-नहीं नहीं उससे भी कई शतगुण बढ कर कार्यमात्र के लिये कर्ता अर्थात् निमित्त कारण की आवश्यकता होती है क्योंकि समवायी अर्थात् उपादान कारण यदि लाख वर्ष तक भी पडा रहे उससे कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। यदि कार्य की उत्पत्ति होती है तो केवल उस समय होती है जिस समय कोई चेतन कर्ता अपने ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के द्वारा उपादान में हल चल मचाता है। उस समय उपादान कारण में निमित्त कारण के संयोग से कई प्रकार की विशेषतायें आ जाती हैं और वह एक सामान्य पदार्थ से उठकर विशेष कला कृति के रूप में संसार के सामने आता है। यह बात न केवल घट पट आदि से लेकर अद्भुत और विचित्र विद्युत् यन्त्रों तक में ही पाई जाती है अपितु वन पर्वत समुद्र मेघमाला तथा चन्द्र सूर्य आदि में स्पष्ट दिखाई देती है। अतः पृथिवी आदि कार्यों को देख कर उनके रचयिता कर्ता ईश्वर का अनुमान करना स्वाभाविक है। इतनी बात अवश्य है कि घट पटादि कार्यों का कर्ता सामान्य बुद्धि वाला और सीमित शक्तिवाला है और अनन्त कलापूर्ण कृतिवाले संसार का रचयिता अनन्त शक्ति सम्पन्न, सर्वव्यापक और सर्वज्ञ परमेश्वर है—जो अनन्त ज्ञानों का भण्डार है।

दूसरी युक्ति "आयोजन"

सृष्टि पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि इसकी रचना ऐसी बुद्धिमत्ता से की गई है कि इसके गुप्त रहस्यों का पता लगाना भी कठिन हो रहा है। इस पर भी जिन विद्वानों ने अपने जीवन लगा कर सृष्टि में होने वाले अद्भुत परिवर्तनों का ऐतिहासिक क्रम खोज निकाला है और अनेक प्रकार की विद्याओं का पता लगाया है, उनके अनुभवों, अन्वेषणों तथा विचारों को सामने रखकर प्रत्येक विचार शील व्यक्ति को सच्चे हृदय से स्वीकार करना पडता है कि

जगत् का आयोजन किसी विशेष प्रयोजन को लेकर किया गया है और इस का नियम बद्ध संचालन भी किसी महान् बुद्धिमान् का किया हुआ है, यदि कोई बुद्धिमान् जगत् का आयोजन न करता तो निश्चय से यह जगत् इतना सुन्दर, इतना नियमबद्ध तथा इतना महत्वशाली कदापि न होता, जितना कि देखने में आता है।

देखिये, हिमालय के गर्भ में 'धातु उपधातु बनाने का कार्य हो रहा है, कई स्थानों में पृथिवी के अन्दर ही अन्दर मिट्टी के तेल के कूप तैयार हो रहे हैं। कहीं सुवर्ण और चान्दी तथा रत्नों के बनानेका काम चल रहा है। कहीं सीमेण्ट का पत्थर बन रहा है। कहीं लोहा तैयार हो रहा है। कहीं वर्षा के लिये मेघमाला की रचना रची जा रही है। कहीं नदियों में बाढ आ कर भूमि निर्माण का कार्य हो रहा है। समुद्र के गर्भ में अनेक प्रकार की सृष्टि बस रही है और मोती और मूंगा आदि की रचना रची जा रही है। ऊपर देखो तो तारागण अपनी २ गति पर सतत घूम रहे हैं और अनादि काल से प्रकाश करते चले आ रहे हैं। सूर्य का तेज और चन्द्रमा की चान्दनी अपनी विशेष प्रकार की शोभा दिखाने में लगे हैं। किमधिकम्—जिधर देखो उधर ही अद्भुत आयोजन और विचित्र संयोजन दिखाई देता है।

ये सब अद्भुत कर्म ऐसे नहीं हैं कि जिन को कोई मनुष्य या मनुष्य समाज कर सके। और न ही ऐसे हैं कि विना किसी बुद्धिमान् की सहायता के अपने आप हो जावें। अतः हमें कहना पडता है कि जगत् के पदार्थों का आयोजन, शरीरों का आयोजन, शरीर के अंगों का आयोजन और प्रत्येक औषधि वनस्पति का आयोजन किसी अलौकिक बुद्धिमान् का निश्चित किया हुआ है। नियम यह है कि जो जो भी आयोजन होता है वह अवश्यमेव किसी बुद्धिमान् कर्ता का रचा हुआ होता है जैसे राजमहल। जगत् में भी सर्वत्र आयोजन है अतः यह आयोजन भी बुद्धिमान् कर्ता का ही किया हुआ है। और वह बुद्धिमान् कर्ता, सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिये कि आप किसी राजमहल की झांकी ले रहे हैं उस महल में अनेकों कमरे हैं। प्रत्येक कमरे में पृथक २ सामान रखे

हैं, कहीं बहुमूल्य वस्त्रों से आच्छादित शय्या हैं। कहीं अनेक प्रकार का फर्नीचर हैं। कहीं स्वादिष्ट भोजन की सामग्री है। कहीं पुस्तकों से भरी अल्मारियें हैं। कहीं बिजुली के विविध प्रकार के दीपक जल रहे हैं और कहीं आमोद प्रमोद की विचित्र सामग्री रखी हुई है। चारों ओर सुगन्धी पुष्पों से लदे पौधे लह लहा रहे हैं कहीं उद्यान है। कहीं उपवन हैं—इत्यादि। इस सब आयोजन को देखकर हमारे हृदय से ध्वनि निकलती है कि धन्य है उस शिल्पकार को जिसने इस प्रासाद कि रचना रची है और इस महान आकर्षक आयोजन का आयोजन किया है। हमारे मन के अन्दर स्वप्नमें भी यह विचार नहीं आता कि यह आयोजनपूर्ण राजमहल अपनी सामग्री के साथ अपने आप ही बन गया होगा अथवा इस को बनाने वाला कोई शिल्पी नहीं है।

शंका—कई लोग प्रकृतिवाद (Materialism) का आश्रय ले कर कहा करते हैं कि प्रकृति के परमाणु परस्पर मिल कर सूर्य, चन्द्र नक्षत्र और पृथिवी आदि बन गये हैं। इन को गति देनेवाला और आयोजन करने वाला कोई ईश्वर नहीं है।

उत्तर—स्वातंत्र्ये जडता हानिः नादृष्टं दृष्टघातकम्।
हेत्वभावे फलाभावः विशेषस्तु विशेषवान्॥ ४॥

शब्दार्थ—स्वातन्त्र्ये—प्रकृति अथवा परमाणुओंको यदि स्वतंत्र मानो तो, जडता हानिः—जडता की हानि होगी अर्थात् प्रकृति और परमाणुओं को चेतन मानना होगा। अदृष्टम्—अदृष्ट संस्कार को यदि गति दाता मानो तो, दृष्टघातकम् न—वह दृष्ट क्रिया का घातक नहीं हो सकता, हेत्वभावे—कारण के न होने पर, फलाभावः—कार्य भी नहीं हो सकता। विशेषः तु—विशेष ही, विशेषवान्—विशेषवाला होता है।

व्याख्या—प्रकृति में यदि स्वाभाविक गति शक्ति मानी जावे तो वह जड नहीं कही जा सकती अपितु वह चेतन माननी पडेगी क्योंकि स्वतन्त्रतापूर्वक गति चेतनों में ही देखी गई है। जड पदार्थ चाहे कितने भी बलशाली यन्त्र तक क्यों न हों उनमें विना किसी

चेतन संचालक के अपने आप गति करने का सामर्थ्य कभी नहीं होता।

यदि कहा जावे कि अदृष्टों के कारण जड परमाणु और पदार्थों में गति मान कर निर्वाह हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अदृष्ट भी चेतन के ही संस्कार होते हैं अतः चेतन के विना अदृष्ट भी किसी को गति नहीं दे सकते। दूसरी बात यह है कि संसारभर के चेतन आत्माओं के प्रवल पुरुषार्थ से भी जगत् के आयोजन आदि नहीं किये जा सकते क्योंकि लाखों अल्पज्ञों में भी एक सर्वज्ञ की शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती जैसे लाख गधे एकत्रित हो जावें तो भी एक मनुष्य कृत मकान या मशीन नहीं बना सकते।

जैसे उपादान कारण के विना कोई घट आदि पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते वैसे ही निमित्त कारण चेतन कर्ता के विना भी घट आदि कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः ईश्वर के विना परमाणुओं में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती—इस लिये ईश्वर के विना जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती।

बात यह है कि सामान्य प्रकार के कार्यके लिये सामान्य प्रकार के कर्ताकी आवश्यकता होती है और विशेष प्रकारके कार्य के लिये विशेष प्रकार के कर्ता की आवश्यकता होती है। जितना सामान्य कार्य होगा उसका कर्ता भी उतनाही साधारण बुद्धि और सामान्यशक्ति वाला होगा और जितना विशाल और अद्भुत कोई कार्य होगा उसका कर्ता भी वैसा ही कुशाग्र बुद्धि तथा महान् शिल्पी होगा। जगत्—एक महान् कलापूर्ण कृति है अतः इस का बनानेवाला अल्पज्ञ चेतन कर्ता नहीं हो सकता। अतः जगत् की आयोजनापूर्ण विचित्र कृति को देखकर अनुमान होता है कि इसका रचयिता कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है वेद ने कहा है कि—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ. १०-१२१-५

जिस ने तेज से परिपूर्ण तारा मण्डल को अन्तरिक्ष में स्थापित किया, जिसने पृथिवी लोकको सुदृढ नियमों में बांध रखा है। जिसने जीवों के लिये विविध सुख की सामग्री बनाई है। जो मोक्ष की

व्यवस्था करता है। और जो हृदयान्तरिक्ष में चञ्चल गतिवाले मन को स्थापित करने वाला है। उस अद्भुत शक्तिवाले देवाधिदेव परम-कल्याणकारी परमेश्वर की हम अत्यन्त श्रद्धाभक्ति से उपासना करें।

तीसरी युक्ति 'धृति'

पृथिवी आदि से ले कर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सारा सारमण्डल और द्युलोक का नक्षत्र समूह तथा आकाशगंगाके तारे-इस सारे संसार को किसी बलवान चेतन ने प्रयत्नके द्वारा धारण किया हुआ है और इनको गिर पडने तथा परस्पर टकराकर नष्ट भ्रष्ट होने से बचा रखा है।

गुरुत्वे सति अपतनधर्मकत्वात्– इन में बोझ है परन्तु सूर्य चन्द्र आदि गिरते नहीं है, वियति विहंगमशरीरवत्– आकाश में पक्षी का शरीर बोझवाला होने से गिरपडने के स्वभाव वाला है परन्तु वह गिरता नहीं हैं क्योंकि उसका आत्मा अपने शरीर को भ्रमण कराता और उडाता रहता है। तत्संयुक्त द्रव्यवच्च—अथवा पक्षी अपनी चञ्चू में या पंजों में कोई चीज पकडे हुए उडता है तो वह चीज भी नहीं गिरती। यदि पक्षी उसको न पकडे अथवा पक्षी की चञ्चू से छूठ जावे तो वह नीचे गिर पडती है।

हमारी लम्बी चौड़ी विशाल पृथिवी और उससे १३ लाखगुणा बडा सूर्य और सूर्य से भी शतशः गुणा वडे अगस्त्य तथा ज्येष्ठा आदि तारे-ये सब भारी भारवाले लोक हैं। इनका आज तक नियम पूर्वक चलते रहना और अत्यन्त वेग के साथ गति करना और न गिरना सिद्ध करता हैं कि इनको गिरने से बचाने वाला कोई चेतन हैं और वह इन से भी महान् तथा शक्तिमान् है।

हमारी पृथिवी का आजतक का इतिहास भी साक्षी देता है कि एक अरब सत्तानवे करोड उनतीस लाख उनचास सहस्र वर्ष हो चु के हैं, यह पृथिवी अपनी विशाल गोद में अरबों मनुष्य, खरबों पशु, और पद्मों कीट पतंग तथा संखों छोटे जीव और असंख्य वनस्पति आदि को धारण किये ६४ सहस्त्र मील प्रति घण्टे की गति से सूर्य की ओर परिक्रमण कर रही है, इस दो अरब वर्ष के लम्बे समय में पृथिवी की आजतक कभी चन्द्रमा, सूर्य या किसी अन्य धूमकेतु आदि ग्रह से

टक्कर नहीं लगी । इस के विपरीत हमारे शतशः इन्जीनिअरों और बुद्धिमान् शिल्पी वर्ग द्वारा निर्मित तथा संचालित रेलगाडी आदि की टक्करें सदा सुनने और देखने में आती रहती हैं । विचार कीजिये कि पृथिवी आदि ट्रेनों को टक्कर से बचाने वाला और सूर्य चन्द्र आदि को गिरनेसे बचानेवाला कितना महान् बुद्धिमान् और सर्वशक्तिमान् होगा ?

उत्तरीयध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव के सिद्धान्त को जान कर तो और भी आश्चर्य होता है कि ब्रह्माण्ड को किस प्रकार दो भागों में विभक्त करके संसार का संचालन किया जा रहा है । किमधिकम्—जिधर देखो उधर ही आकर्षण और जिधर देखो उधर ही नियमों का जाल सा बिछा दिखाई देता है । इस सारे आकर्षण, धारण और नियमन पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि इस सुनियन्त्रित तथा सुसम्बद्ध (Well Balanced) संसार का कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और धारण कर्ता परमेश्वर अवश्य है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी देवी को शास्त्रार्थ के समय बडे विश्वास और आग्रह के साथ कहा था कि—एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः—हे गार्गि, इस सर्व शक्तिमान् अविनाशी परमेश्वर के कठोर और प्रबल शासन के कारण सूर्य चन्द्र तथा अन्य ग्रहनक्षत्र मण्डल विशेष नियमों में बन्धे हुए गति कर रहे हैं और उसी ने इन को धारण किया हुआ है—नहीं तो ये कभी के चूर २ होकर नष्ट भ्रष्ट हो जाते ।

चौथी युक्ति 'पदात्'

जुलाहा आदि कारीगरों का वस्त्रादि निर्माण कौशल, मनुष्यों का भाषाभाषण, तथा शब्दों को लिपि बद्ध करना और बालकों को सिखाना—ये सब बातें किसी स्वतन्त्र चेतन पुरुष द्वारा ही प्रचलित हो सकती हैं क्योंकि जो भी व्यवहार होता है वह किसी न किसी गुरु से ही सीखा जाता है। जैसे किसी सिद्ध हस्तशिल्पी द्वारा बनाई हुई वस्तुका निर्माण सीखने के लिये उसके पास जाना और ध्यान लगा कर अभ्यास पूर्वक सीखना आवश्यक होता है और वृद्ध लोगों के पास से पदार्थों और व्यक्तियों के चैत्र, मैत्र, घट, पट आदि नाम

सीखना और उच्चारण करना तथा व्यवहार में लाने का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है और लेखन कला सीखने के लिये किसी जानकार उत्तम लेखक से शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक होता है-वैसे ही मनुष्य को पद ज्ञान तथा कला विज्ञान के लिये किसी चेतन गुरु की आवश्यकता है वह गुरु परमेश्वर ही हो सकता है।

प्रश्न यह है कि मनुष्य के पास भाषा कहां से आई ? और उसने भाषण कला तथा लेखन कला कहां से प्राप्त की ? विकासवादी Evoiutlonist कहते हैं कि भाषा और लिपि आदि कला का निर्माण मनुष्य ने स्वयम् किया है अर्थात् मनुष्य को भाषा व्यवहार का ज्ञान स्वत एव हुआ है। परन्तु इसमें सत्यता और यथार्थता का लेश भी नहीं हैं विचार कीजिये—

मनुष्य में भाषा और लिपि रचने की योग्यता तो दूर रही-मनुष्य तो स्वभाव से बोलता और अपने पैरोंपर खडा होना भी नहीं जानता। कई स्थानोंपर भेडियों द्वारा उठाये गये बच्चों को देखा गया है। वे अपने पैरोंपर खडे भी नहीं हो सकते किन्तु भेडिये के समान चारों टांगों से दौडते थे। भाषा भी उन की लैटिन या इंग्लिश अथवा हिन्दी या मराठी नहीं थी किन्तु भेडिये के समान ही गुर्राते थे। बादशाह अकबर, दूसरे फ्रेडरिक तथा चौथे जेम्स ने अपने २ राज्य में मनुष्य की स्वाभाविक भाषा का पता लगाने के उद्योग किये। दुधमुहे बच्चों को ऐसे स्थानों में रखकर पाला गया जहां उनके कानोंमें किसी प्रकार की भाषा का शब्द न पडने पावे। परिणाम यह निकला कि भारतीय बच्चा भारतीय भाषा से कोरा था और यूरोपीय बच्चा यूरोपीय भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ था। दस पन्द्रह वर्ष के बच्चे राजसभा में उपस्थित किये जाने पर जब कोई भी भाषा न बोल सके तो जनता को भी महान आश्चर्य हुआ। हां वे चूं चूं या कूं कूं ही करते थे-यही एक मात्र उनकी भाषा थी। इसका कारण था इन शब्दोंका उनके कानों में पडना। दूध पिलाने वाले या भोजन खिलाने वाले जब किवाड खोलकर उनके पास जाते तो किवाडों के खुलने से ही कूं कूं या चूं चूं के शब्द निकला करते थे। और नियम यह है कि जो शब्द कान में पडता है वही जिह्वा से निकलता है। जो सुनता है वही बोला जाता है। यदि

मनुष्य की कोई भाषा स्वाभाविक होती तो इन राजकीय परीक्षणों से अवश्य प्रकट होती। परन्तु नहीं हुई और न ही कभी प्रकट होकर सिद्ध हो सकती है। तब प्रश्न यह है कि मनुष्य का भाषा का व्यवहार किसने सिखाया ?

भारतीय तत्व दर्शियों ने मनुष्य के स्वभाव का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् यह ही निर्णय किया है कि सृष्टि के आदि में जब परमेश्वर ने आदि पुरुषों को उत्पन्न किया तो साथ ही उनको भाषा भी दी। उस भाषा को व्यवहार में ला कर मनुष्य समाज के कार्य सुचारू रूप से चलने लगे। तब से मनुष्य मनुष्य को भाषा और लेखन आदि अन्य व्यवहार सिखाता आ रहा है और मनुष्य का बच्चा अपने माता पिता अथवा संरक्षक गुरुजनों से भाषा आदि व्यवहार सीखता चला जा रहा है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक योगीराज पतञ्जलि ने योग दर्शन में अपना महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए कहा है— स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्—आदि पुरुषों को सर्व प्रकार का ज्ञान दाता परमगुरू परमेश्वर ही है। यदि आदि सृष्टि में आदि पुरुषों को परमेश्वर ज्ञान न देता तो आज का मनुष्य समाज भी भाषा आदि व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ रह जाता। दूसरी बात यह है कि मनुष्य में स्वयम् भाषादि ज्ञान और लेखनादि विविध कलाओं के आविष्कार की स्वाभाविक शक्ति होती तो किसी भी व्यक्ति को किसी कला को सीखने के लिये किसी विशेषज्ञ गुरु की शरण में जाना न पडता—उसके पास शिष्य बन कर शिक्षा प्राप्त किये बिना ही सीख लेता। परन्तु ऐसा नहीं है और बिना सिखाये किसी कला का सीखना सर्वथा असम्भव है।

अतः अनादि अनन्त और सर्वज्ञ परमेश्वरने ही आदि पुरुषों को भाषा आदि का व्यवहार ज्ञान दिया, वेद में भी इस तथ्य का विशद वर्णन किया गया है। इस मन्त्रके शब्द ध्यान देने के योग्य हैं-

यज्ञेन वाचः पदवीय मायन्

तामन्व विन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्। ऋ•

उस यज्ञ स्वरूप कल्याण कारी परमेश्वर ने वाणी के पद व्यवहार आदि ऋषियों को प्रदान किया और शिष्यवर्ग ने अनुभव किया

कि वह ज्ञान ऋषियों में अच्छी प्रकार से सुप्रतिष्ठित था। फिर ऋषियों से शिष्योंने सीखा। एक और मंत्र में कहा है—

बृहस्पते: प्रथमं वाचो अग्रे
यत् प्रैरत् नामधेयं दधानाः। ऋ०

सर्वाधिपति परमेश्वरने पहिले पहिल वाणी का व्यवहार ऋषियों को दिया और उनको सकल पदार्थों के नाम भी सिखाये। यह सब ज्ञान परमेश्वरने अन्तर्यामी होनेसे हृदयमें प्रेरणा देकर सिखाया।

ततः लोकोत्तरःसर्वानुभावी परमेश्वरः संम्भाव्येत—इस से सिद्ध हुआ कि भाषा व्यवहार आदि कला विज्ञान का आदि गुरु कोई अलौकिक सर्वज्ञ परमेश्वर अवश्य है।

पांचवी युक्ति 'प्रयत्न'

प्रत्यय शब्देनात्त समाश्वास विषय प्रामाण्यमुच्यते— अर्थात् प्रत्यय शब्द से विश्वास का प्रामाण्य लेना चाहिये। धर्म अधर्म के विषय मे पता लगाना यह भी मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति से बाहर की चीज है। संसार की किसी जाति और किसी सम्प्रदाय को देखो वह अवश्यमेव धर्म तथा अधर्म में विश्वास करता है। यहां तक कि अफ्रिका के जंगली लोग भी धर्म अधर्म से परिचित हैं और किसी काम को धर्म और किसी को अधर्म मानते हैं।

प्रश्न यह हैं कि इस विश्वासका मूल स्त्रोत कहां है? क्या मनुष्यने स्वयम् इस का आविष्कार किया है या मनुष्य को किसी से प्राप्त हुआ है? विचार कियां जाये तो मानना होगा कि यह धर्माधर्म विषयक ज्ञान भी परमेश्वर का दिया हुआ हैं। सभ्यता के उच्च शिखर पर चढ़ी हुई आर्य जातियों में यह विश्वास अत्यत परिष्कृत रूप में तथा अनार्य जातियों में विकृत रूप में आज भी सर्वत्र प्रतीत हो रहा है। कालभेद से एकवैदिक धर्म ही स्थान २ पर अनेक रूपों में हो गया है और जिस प्रकार भाषायें अनेक होगई परन्तु मूल सब का संस्कृत भाषा है इसी प्रकार वैदिक धर्म सब धर्मों और सब मतमतान्तरों क आदि मूल है।

मनुष्य, स्वभाव से न हिन्दू है न पारसी है न बौद्ध है न जैन, और

में आते हैं। अतः द्व्यणुक और त्र्यणुक के मिलने से ही कार्य और कार्य गुणों की उत्पत्ति हुई है।

द्व्यणुक त्र्यणुकेतावत् परिमाणवती द्रव्यत्वाद्-द्व्यणुक और त्र्यणुक भी कुछ परिमाणवाले अवश्य हैं क्यों कि वे द्रव्य हैं। जो द्रव्य होता है उसका कोई न कोई परिमाण अवश्य होता है। तच्च परिमाणं कार्यं गुणत्वात्— और वह परिमाण कार्य है क्यों कि वह कार्य का गुण है। नियम यह है कि द्रव्य से द्रव्य उत्पन्न होते हैं और गुणों से गुण उत्पन्न होते हैं। अणु परिमाण के नित्य होने से अनित्य महत्व परिमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः संख्या को महत् परिमाण का कारण मानना चाहिये। संख्या भी अनन्त हैं और परमाणु भी अनन्त हैं। इतने बडे पदार्थ के इतने बडे महत् परिमाण के लिये इतनी संख्या के अणुओं की आवश्यकता होगी—इस को जानने वाला ईश्वर पदार्थों को उचित परिमाण दे सकता है। अर्थात् कार्य मात्र के प्रति ऐसा कर्ता होना चाहिये जो अणुओं की संख्या जानता हो और पदार्थों को विशेष आकार और परिमाण वाला बनाने के लिये उनकी संख्या का प्रयोग कर सके। इतना विशाल गणित किसी मनुष्य के मस्तिष्क में नहीं समा सकता। अतः कोई अविनाशी परमेश्वर अवश्य है जो इच्छानुसार अणुओं की संख्या से पदार्थों का आकार बनाकर जगत् की रचना करता है। गणित और ज्यामिति के विद्वान् इस रहस्य को अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं और समझा सकते हैं कि गणित के द्वारा भी सर्वज्ञ जगत्कर्ता ईश्वर की सिद्धि होती है।

इन से अतिरिक्त और भी कई युक्तियें हैं जिन से सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है यथा—कर्म फल प्रदातृत्वात् अर्थात् जीवों के कर्मों का फल प्रदाता कोई अवश्य होना चाहिये। जीव पाप करते हैं परन्तु पाप का फल दुःख भोगना नहीं चाहते। सुख चाहते हैं परन्तु सुख के कारण, धर्म को करना नहीं चाहते। संसार में सुख दुःख देखने में आता है अतः सुख दुःख रूप फल का देनेवाला कोई अवश्य होना चाहिये। किसी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और सीमित जीव में या उनके समूह में ऐसी शक्ति और योग्यता हो नहीं सकती। अतः कर्मफल प्रदाता सर्वज्ञ सर्व व्यापक और सर्व शक्तिमान् परमेश्वर

अवश्य है। ऐसे ही संहार से भी ईश्वर सिद्धि की जा सकती है।

उपरोक्त सभी युक्तियें निर्दुष्ट हैं अतः इनका किसी प्रकार खण्डन नहीं किया जा सकता—

कार्यत्वात् निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः।
विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत् ॥५॥

भावार्थ— जिस प्रकार 'कार्यत्व' हेतु निरूपाधिक है अर्थात् उस को सोपाधिक आदि हेत्वाभास सिद्ध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अन्य हेतु—धृति, विनाश, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य, संख्या विशेष तथा कर्मफल प्रदातृत्व भी निरूपाधिक और निर्दुष्ट हेतु हैं। यदि इन में से किसी हेतु को कोई हेत्वाभास सिद्ध करना चाहे तो बडी सरलता से उस को निग्रहस्थान में लाकर निरुत्तर किया जा सकता है और उपर्युक्त युक्तियों से सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है।

यद्यपि जहां तक विप्रतिपत्तियों के निरास का सम्बन्ध था वहां तक पांचों विप्रतिपत्तियों पर विचार हो चुका है और सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि सिद्ध की जा चुकी है—कुछ विशेष कहना शेष नहीं रहा है तथापि वेदार्थ विज्ञान की दृष्टि से यह बतलाना आवश्यक है कि इस सर्वज्ञ ईश्वरवाद को पुष्टि प्रदान करनेवाला वेद ही है अतः अब वेदके सम्बन्ध में कुछ आवश्यक विचार किया जाता है।

उद्देश एव तात्पर्यं व्याख्या विश्वदृशः सती।
ईश्वरादिपदं सार्थं लोकवृत्तानुसारतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—वेद की सच्ची व्याख्या करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि—वेद का परम तात्पर्य शुभ कार्य करने और अशुभ कार्यों से निवृत्त होने में है। लोक व्यवहार के नियमानुसार भी प्रत्येक ईश्वर आदि वैदिक पद का अर्थ अवश्य है। अतः अर्थपूर्वक वेद का अध्ययन करना चाहिये।

कार्यात् आदि पूर्वोक्त हेतुओं से वेदार्थ विचार किया जावे तो उस से भी सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है। यथा—

(१) कार्यात् — वेद में कर्तव्य करने और अकर्तव्य से बचने का उपदेश पाया जाता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति की प्रेरणा सर्वज्ञ ईश्वर की ओर से ही हो सकती है अतः इस विधिनिषेध रूप उपदेश का कर्ता ईश्वर अवश्य है।

(२) आयोजनात् — वेद में पदों की योजना ऐसे अद्भुत ढंग की पाई जाती है कि इस योजना कौशल को देखकर कहना पडता है कि इस योजना का संयोजक कोई ईश्वर अवश्य है क्योंकि ऐसा आयोजन किसी मनुष्य की शक्ति के बाहर की वस्तु है।

(३) धृते — इतने वेद का अनन्त ज्ञान को धारण करना—यह भी सिद्ध करता है कि सर्वज्ञ ईश्वर ही इस का रचने वाला है क्यों कि किसी मनुष्य में ऐसी शक्ति नहीं हो सकती कि इतने से वेद में संसार का सारा ज्ञान और आत्मा परमात्माके सम्बन्ध का पूरा ज्ञान भर सके

(४) पदात् — वेदमें वर्णन किये गये 'ईश्वर' आदि पद भी बडे २ विचित्र अर्थो के बोधक हैं इन पदों की प्रकृति प्रत्यय आदि पर विचार किया जावे तो मानना पडता है कि इन में सुन्दर महान गम्भीर अर्थ और विशाल भाव भरे पडे हैं। अतः इस से भी सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ ईश्वर ही इस अद्भुत रचनाका रचने वाला है।

इसी प्रकार वेद में प्रयुक्त किये गये 'प्रत्यय' से भी सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है। यथा—

प्रवृत्तिः कृतिरेवात्र सा चेच्छातोयतश्च सा।
तज्ज्ञानं, विषयस्तस्य विधिस्तज्ज्ञापकोऽथवा ॥७॥

भावार्थ — वेद में स्थान २ पर लिङ् लकार का प्रयोग दिखाई देता है। यह लिङ् क्या है ? एक प्रत्यय ही तो है। लिङ् और लोट् प्रत्यय का प्रयोग किसी विधि या आज्ञा के लिये हुआ करता है और यह नियम है कि विध्यर्थक प्रत्ययका प्रयोक्ता कुछ आज्ञा दिया करता है और उस का श्रवण कर्ता किसी कार्य के करने में प्रवृत्त अथवा निवृत्त हुआ करता है प्रवृत्ति का अर्थ है कृति अर्थात् कुछ करना। और वह 'कृति' इच्छा से उत्पन्न होती है। और वह इच्छा 'ज्ञान' से उत्पन्न होती है। और यद्विषयक ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है—वह

विषय ही विधि अर्थात् लिङादि का अर्थ है। अथवा यह समझ लीजिये कि उस विषय का ज्ञापक कोई अभिप्राय ही विधि कहाता है।

वेद में विध्यर्थक प्रत्यय के पाये जाने से वेदवक्ता किसी सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि होती है। जैसे लोक व्यवहार में—"चले जावो, भोजन करो," आदि पदों का कोई प्रयोक्ता होता हैं और उस के अनुसार जाने बैठने या खाने का कार्य करने वाला व्यक्ति होता है वैसे ही वेद के—"भुंजीथाः, मागृधः, कृषस्व, आप्यायध्वम्" अर्थात् भोग कर, लोभ मत कर, खेती कर, तुम लोक उन्नति प्राप्त करो—इत्यादि पदों का कोई प्रयोक्ता अवश्य स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार प्रवृत्ति निवृत्ति आज्ञा देनेवाला वेद का प्रवक्ता कोई मनुष्य न होने से सर्वज्ञ परमेश्वर ही सिद्ध होता है।

अथ विध्यर्थ विचार—

जिस विधि को उद्देश्य में रखकर विधि वाक्यों से उनके प्रयोक्ता परमेश्वर का अनुमान किया गया है। अब प्रसंगवशात् यह भी विचार कर लेना चाहिये कि वह विधि क्या है? तथा वह किसका धर्म है?

जिस का ज्ञान, प्रयत्न को उत्पन्न करनेवाली इच्छा को उत्पन्न करता है वह अर्थ विशेष अथवा उसका ज्ञापक अर्थ विशेष ही विधि है अर्थात् जबहम किसी विषय की कोई आज्ञा सुनते हैं तोसुननेपर वैसा करने की इच्छा उत्पन्न होती है जब वह इच्छा प्रबल रूप धारण करती हैं तो हम वह काम करने लग पडते हैं-यह विधि का क्रियात्मक स्वरूप है। यदि विधि के पर्याय शब्दों से अर्थ ज्ञान में सहायता मिल सके तो यह समझ लीजिये कि—विधि कहते हैं प्रेरणा को प्रवर्तना या नियुक्ति को अथवा नियोग या उपदेश को।

अब लगे हाथ यह विचार करना है कि यह विधि, कर्ता का धर्म है या कर्म का धर्म है अथवा जिस शब्दादि साधन से कार्य किया जाता है उस कारण का धर्म है या फिर नियोक्ता अर्थात् आज्ञा देने वाले का धर्म है।

शंका-विधि को कर्ता का धर्म मानने में क्या दोष है?

न ईसाई है न मुसलमान तथा न आस्तिक है न नास्तिक। जैसे व्यक्तियों के सम्पर्क में बच्चे को रखा जावे और शिक्षा दी जावे वैसा ही हो जाता है—यही इस विषय का प्रमाण है कि मनुष्य स्वभाव से किसी विश्वास या मत का माननेवाला नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जावे तो मानना होगा कि मुसलमानी मत से पहिले ईसाई काल में कोई व्यक्ति मुहम्मद पर ईमान लाने वाला और कुरान को ईश्वरीय पुस्तक मानने वाला संसार में नहीं था और ईसा की उत्पत्ति से पूर्व यहूदी काल में ईसापर ईमानलाने वाला और इंजील को ईश्वरीय पुस्तक मानने वाला संसार में एक भी ईसाई नहीं था। इसी प्रकार मूसा और दाऊद की उत्पत्ति से पूर्व संसार में कोई यहूदी मत का माननेवाला नहीं था और पारसियों के गुरु जरथुश्त से पूर्व संसार में कोई पारसी नहीं था। बुद्ध और महावीर जिन से पूर्व कोई बौद्ध या जैनी नहीं था। इनसे भी पूर्व ऋषिव्यासजी हुए जो वेदों के व्याख्याता और प्रचारक कहलाते हैं। व्यासजीके समय से पहिले केवल वैदिक धर्म ही संसार में विराजमान था। इसी वैदिक सम्प्रदाय के मानने वाले पूर्व ऋषि महर्षिगण हुए हैं जिनसे पहिले संसार के इतिहास में कोई धर्म, कोई मत और कोई विश्वास विद्यमान नहीं था। अतः सब मतों और विश्वासों का आदि मूल वेद है और वह वेद संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन पुस्तक होने से सब विश्वासों आदि का पिता है।

इस प्रकार विश्वास पर पूर्वापर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि धर्माधर्म विषय में प्रामाण्य और विश्वास भी मनुष्य का अपना उत्पन्न किया हुआ नहीं है और न ही मनुष्य में विश्वास के आविष्कार करने की स्वाभाविक शक्ति है। अतः किसी स्वतंत्र सर्वज्ञ चेतन को अवश्य स्वीकार करना चाहिये जो मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग बतावे और अच्छे बुरे तथा धर्माधर्म का विवेक करावे। वह सर्वज्ञ और स्वतंत्र चेतन परमेश्वर ही है। यदि परमेश्वर न होता तो संसार में धार्मिक विश्वास और आत्मिक उन्नति के विचार प्रचलित न होते। परन्तु संसार में धार्मिक विश्वास विद्यमान हैं और आत्मिक उन्नति के विचार भी प्रचलित हैं अतः इनका उपदेश देने वाला सर्वज्ञ परमेश्वर अवश्य है।

छटी युक्ति "श्रुति"

सर्वज्ञप्रणीताः वेदाः वेदत्वात्– वेद सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रणीत हैं। क्यों ईश्वर के प्रणीत हैं? इसलिये कि वेद हैं। यत् पुनर्न सर्वज्ञ प्रणीतंनाऽसौवेदः–जो सर्वज्ञ ईश्वर का प्रणीत नहीं वह वेद भी नहीं। यथेतर वाक्यम्—जैसे ईश्वर से भिन्न किसी कवि आदि का काव्य या वाक्य।

यहां व्यतिरेकी अनुमान देकर आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि जैसे अन्य कवियों के रचे हुए वाक्य या काव्यों को वेद नहीं कहा जाता और न वे वेद हैं वैसे ही किसी मनुष्य को वेद का रचयिता नहीं माना जा सकता। जब अन्यों के रचे ग्रन्थों और वेद में विषय और वर्णन शैली का महान् अन्तर है तो उन को समान कृति मान कर समान जातीय कर्ता से रचे कैसे माना जा सकता है? अतः वेद का कर्ता अमर अविनाशी सर्वज्ञ ईश्वर ही सिद्ध होता है न कि अन्य कवियों के समान जन्मने मरने वाला कोई अल्पज्ञ मनुष्य।

वेद में स्वयम् भी कई स्थानों पर यही बात कही है और वेदों को सर्वज्ञ परमेश्वर की रचना कहा गया है यथा—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ॥ यजुः।

उसी सर्वज्ञ परमेश्वर से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए। उसी परमेश्वर से अथर्ववेद उत्पन्न हुआ और उसी से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

यदि यह कहा जावे कि वेद में ऐसी कौन सी विशेषता है जिस से वेद को ईश्वरीय ज्ञान या ईश्वरप्रणीत माना जावे तो सुनिये—

जैसे अन्य कवियों की कृतियों में दोष होते हैं वैसे दोष वेद में नहीं हैं। जैसे अन्य कवि अपने काव्य की रचना से पूर्व कवि नहीं थे–एक साधारण मनुष्य थे वैसे वेद का रचयिता परमेश्वर कभी अल्पज्ञ नहीं था। जैसे कवियों का ज्ञान किसी गुरु से सेवा द्वारा प्राप्त होता है वैसे परमेश्वर का ज्ञान किसी की सेवा करके प्राप्त नहीं होता। किन्तु ईश्वर का अपना स्वाभाविक है। ईश्वर जैसे जगत् का पिता है–कवियोंका भी आदि कवि और आदि पिता है वैसे ही ईश्वरीय

ज्ञानवेद भी कवियोंके ज्ञानों का आदि पिता है।

वेदके विषय में संक्षेपतः यह जान रखना चाहिये कि-वेद सब सत्य विद्याओं का अक्षय भंडार हैं। जिन विद्याओं को विद्वान् लोग प्रकट कर रहे हैं-उन सबका मूल वेद में देखाजा सकता है। यथा—

(१) वेद यह बतला सकता है कि सृष्टि की आयु चार अरब बत्तीस करोड वर्ष की है। (२) वेद ग्रह उपग्रहों के विषयमें आकर्षण और विकर्षण के सिद्धान्त बता सकता है। (३) वेद जीवों की कर्म-गति पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाल सकता है। (४) वेद बता सकता है कि जीव और शरीर का क्या सम्बन्ध है तथा आत्मा का स्वरूप क्या है? (५) वेद, धर्म, अधर्म और बन्ध मोक्ष का विस्तार के साथ व्याख्यान कर सकता है। (६) संसार के उपकार तथा आत्मा की उन्नति के विषय में भरपूर ज्ञान दे सकता है। (७) वेद राजनीति के गुण दोषों पर सुन्दर प्रकाश डालता है। (८) वेद आप को बतला सकता है कि वायुयान कैसे बनाये जा सकते हैं और समुद्र में जहाज कैसे चलाये जा सकते हैं? (९) वेद यह भी समझा सकता है कि किस कला कौशल से कैसे २ लाभ उठाये जा सकते हैं? (१०) वेद यह भी बता सकता है कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई और पालन किन नियमों पर हो रहा है तथा प्रलय काल में क्या स्थिति होगी? (११) वेद यह भी बतायेगा कि ईश्वर क्या है? कैसा है? कहां और क्या करता है तथा उसने सृष्टि को क्यों उत्पन्न किया है? (१२) वेद यह भी बतायेगा कि किस रोग की क्या औषधि है? इत्यादि।

उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी की इच्छा हो तो वेद का स्वाध्याय करना चाहिये हीय त्याग्रन्था विस्तार भय से तथा विषयान्तर होने से अधिक प्रमाण नहीं दिये जा सकते।

यह तो निश्चय है कि उपर्युक्त किसी भी विद्या का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य की पहुंच से परे की बात है। अतः जिस वेद में इतना उच्च ज्ञान है वह किसी मनुष्य कृत नहीं किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर कृत ही है।

यदि ईश्वर न होता तो संसार में वेद का अस्तित्व भी न होता परन्तु वेद है और उसके रचनेका सामर्थ्य किसी मनुष्य में नहीं हो सकता, अतः वेद जैसे लोकोत्तर ज्ञानविज्ञान मूलक ज्ञान भंडार को

रचनेवाला कोई सर्वज्ञ अविनाशी ईश्वर अवश्य है।

सातवीं युक्ति वाक्यात्

वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि— वेद के वाक्य किसी बुद्धिमान् पुरुष के रचे हुए हैं। वाक्यत्वात्—वाक्य होने के कारण। जो जो वाक्य होता है वह वह किसी बुद्धिमान् पुरुष के द्वारा रचा हुआ होता है। अस्मदादि वाक्यवत्-जैसे हमारे तुम्हारे रचे हुए वाक्य।

इस अन्वयी अनुमान से यह सिद्ध किया गया है कि वेद को अवश्य किसी ने रचा है क्योंकि जो रचना होती है वह अवश्य किसी पुरुष के द्वारा रची गई होती है। अतः वेद का भी रचयिता कोई होना ही चाहिये। अर्थात् यदि वाक्य होने से कुमारसम्भव आदि कृति हैं तो वेद भी किसी की कृति होने चाहिये।

यदि कहो कि वेद के कर्ता का किसी को स्मरण नहीं अतः वह किसी की कृति नहीं-तो इतने मात्र से वाक्यत्व हेतु का अपमान नहीं किया जा सकता क्योंकि मन्त्रों और मनुस्मृति आदि से ईश्वर को वेद कर्ता के रूपमें कई स्थानोंपर स्मरण किया गया है। अतः अस्मर्यमाणकर्तृत्वात्-यह हेतु असिद्ध होने से हेत्वाभास है।

आठवीं युक्ति "संख्या विशेषात्

संसारमें छोटे से छोटासा तत्व अणु हैं। ये अणु संख्यामें असंख्य हैं एक अणु दूसरे अणु से मिलता है तो द्व्यणुक बन जाता है ऐसे त्र्यणु आदि बनकर छोटे आकार से लेकर बडे आकार वाले और बडे से बडे आकार वाले पदार्थ बन जाते हैं। दो अणुओं में द्वित्व संख्या और तीन द्व्यणुकों में त्रित्व संख्या द्व्यणुक और त्र्यणुक के परिमाण का कारण है। यदि इन में संख्या न होती तो इन के संयोग से विशेष परिमाण भी उत्पन्न न होता। देखा यह जाता है कि जैसे २ अणु मिलते जाते हैं वैसे वैसे पदार्थों के आकार प्रकार बढते जाते हैं और पदार्थों का अल्प परिमाण बढकर महत् परिमाण हो जाता है और तब वे इन्द्रियग्राह्य होने लगते हैं।

विचार यह है कि यह आकार अथवा परिमाण कैसे बढा ? इसके बढ़ने का क्या कारण है ? सिद्धान्त यह है कि कारण के गुण ही कार्य

उत्तर—इष्ट हानेरनिष्टाप्तेर प्रवृत्तेः विरोधतः
असत्वात् प्रत्यय त्यागात् कर्तृ धर्मा न संकरात् ॥८॥

भावार्थ—यदि विधि को कर्ता का धर्म माना जावे तो कई दोष उपस्थित होंगे जैसे—

(१) इष्ट हानिः– 'आत्माका चिन्तन करो' ऐसे स्थलों में अव्याप्ति दोष आयेगा क्योंकि वहां कोई क्रिया नहीं होगी। अतः स्पन्द विधि नहीं है।

(२) अनिष्टाप्तिः— 'ग्राम को जाता है' इत्यादि स्थलों में अति व्याप्ति दोष उपस्थित होगा क्योंकि कृति तो लट् लकार में भी है।

(३) अप्रवृत्तेः—कुछ करना और जानना—इन में महान् अन्तर है। कृति के ज्ञान मात्र से प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु जब किसी काम के करने की इच्छा होती है तभी प्रवृत्ति होती है। अतः प्रवृत्ति न हो सकने का दोष आयेगा। जैसे लट् में प्रवृत्ति—नहीं होती वैसे लिङ् के सुनने से भी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

(४) विरोधतः— कृति और प्रवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है परन्तु इस प्रवृत्ति को भी कृति साध्य मानने में विरोध आयेगा।

(५) असत्त्वात्— लिङ् लकार के श्रवण काल में इच्छा का ही अभाव होता है अतः उस समय वह कर्ता का धर्म कैसे होगा? और प्रत्यय के त्याग से तो इच्छा भी उत्पन्न नहीं होगी।

(६) संकरात्— निर्विषयक ज्ञान के असम्भव होने से लिङ् के साथ किसी न किसी विषय का सम्बन्ध मानना ही होगा अतः ज्ञानके साथ विषय का संकर उपस्थित होगा क्योंकि विषय और ज्ञान दोनों ही विद्यमान होंगे।

इस से सिद्ध हुआ कि स्पन्द, कृति, इच्छा और ज्ञान—इन में से कोई भी विधि रूप नहीं है।

शंका— मीमांसक का कहना है कि अचेतन रथ आदि भी कर्ताकारक के रूप में व्यवहृत होते हैं यथा रथो गच्छति— रथ जाता

हैं, गाड़ी चलती है; मोटर भागती है इत्यादि ऐसे स्थलों में जो कुछ रथादि में क्रिया होती है उसी को मुख्य आख्यात मानना चाहिये।

उत्तर— कृताकृतविभागेन कर्तृरूपव्यवस्थया।
यत्न एव कृतिः पूर्वा परस्मिन् सैव भावना ॥९॥

भावार्थ— अचेतन रथ आदि भले ही कर्ता कारक होकर कुछ करें परन्तु यह तो मानना ही होगा कि अचेतन कारक को अपनी क्रिया का कुछ भी ज्ञान नहीं होता रथ अचेतन नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं या उन पर क्या क्रिया की जा रही है? इस के विपरीत चेतन कारक जानता है कि वह क्या कर रहा है? इस कृताकृत विभाग से कर्ता के यथार्थ रूप की व्यवस्था करने पर यह सिद्ध होता है कि चेतन में अनुभव की जानेवाली कृति या क्रिया ही मुख्य है और वह है यत्न। और अचेतन कारक में होने वाली वही क्रिया गौण कही जानी चाहिये। अतः मीमांसक का मत युक्तियुक्त नहीं है।

शंका— यदि क्रिया का मुख्य अर्थ यत्न को ही मान लिया जावे और यत्नरहित स्थलों में क्रिया को गौण भी स्वीकार कर लिया जावे तो भी आख्यात कार्य अनुकूल मात्र ही सिद्ध होता है। जैसे पचति का अर्थ होता है पाकं भावयति। शेष रह गया यत्न—जो उस का लाभ आक्षेप से हो सकता है।

उत्तरं— भावनैव हि यत्नात्मा सर्वत्राख्यात गोचरः।
तया विवरण श्राव्यादाक्षेपानुपपत्तितः ॥१०॥

भावार्थ—'भावयति' इस विवरण के बल से भावना, अनुकूल व्यापार ही सिद्ध होता है जो कि यत्न का वास्तविक रूप है और सभी आख्यातों में स्पष्ट भी है। जब स्थिति यत्न है तो यत्न को आक्षेप लभ्य कैसे कहा जा सकता है? तब तो अनुकूलत्व और यत्नत्व विशिष्ट को ही आख्यात अर्थात् क्रिया का अर्थ कहा जाना चाहिये।

तात्पर्य यह है कि पचति का अर्थ पाकं भावयति करने से यही सिद्ध होता है कि अनुकूल यत्न अथवा व्यापार ही आख्यात का अर्थ है न कि केवल अनुकूल मात्र होना। जब 'पाकं भावयति' में 'यत्न' विद्य

मान ही है तो आक्षेप से और क्या लाया जावेगा अतः यत्न को आक्षेपलभ्य नहीं माना जा सकता।

शंका— आख्यात पद में जहां भावना होती है वहां संख्या भी होती है जैसे करोति, शेते इत्यादि में कृति और शयन के साथ संख्या भी है। प्रश्न यह है कि जब भावना और संख्या दोनों ही आख्यात में विद्यमान हैं तो कर्ता कर्म आदि के साथ उसका अन्वय क्यों किया जाता है ? क्रिया के साथ ही होना चाहिये।

उत्तर—आक्षेपलभ्ये संख्येये नाभिधानस्य कल्पना
संख्येयमात्र लाभेऽपि साकांक्षेण व्यवस्थितिः ॥११।

भावार्थ—नियम यह है कि संख्या, भावना की अनुगामिनी होती है अर्थात् जिस के पीछे भावना जाती है उसके पीछे संख्या भी जाती है। जैसे कहा जावे 'करोति, अर्थात् करता है। इस पद में 'ति, प्रत्यय है। वह प्रत्यय जहां कृधातु के साथ सम्बन्ध रखता है वहां एक वचन के साथ भी सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार 'करोति' का अर्थ होता है-एक व्यक्ति कोई काम करता है। अब प्रश्न यह होता है कि वह एक व्यक्ति कौन है ? तो इस आकांक्षा की निवृत्ति के लिये कहा जा सकता है कि देवदत्तः करोति अर्थात् एक देवदत्त नाम का व्यक्ति है जो कोई काम कर रहा है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि संख्या और भावना अर्थात् यत्नरूप प्रवृत्तिका अन्वय किसी कर्ता अथवा अन्य कारक के साथ ही होता है अन्यथा आख्यात के सम्बन्ध में आकांक्षा बनी रहेगी और उसका कोई समाधान न हो सकेगा।

शंका— अस्तु, विधि यदि कर्ता का धर्म नहीं है तो न हो परन्तु कर्म का धर्म मानने में क्या दोष है ?

उत्तर— अतिप्रसंगान्न फलं नापूर्वं तत्व हानितः।
तद्लाभान्न कार्यंच न क्रियाऽप्यप्रवृत्तितः ॥१२॥

भावार्थ— कर्म कहते हैं क्रियते इति- जो किया जावे। ऐसा कर्म या तो फल हो सकता है या फलका कारण अपूर्व हो सकता है अथवा अपूर्व का भी कारण क्रिया हो सकती है। विधि को इन में से

किसी का भी धर्म नहीं माना जा सकता।

(१) फलका इस लिये नहीं कि फल का धर्म फलत्व है—विधि नहीं।

(२) अपूर्व का इस लिये नहीं कि अपूर्व का धर्म अपूर्वत्व है—विधि नहीं।

(३) क्रिया या कार्य का भी धर्म नहीं हो सकता क्यों कि कार्य का धर्म कार्यत्व है—विधि नहीं।

दूसरी वात यह है कि फल को विधि माना जावे तो अति प्रसंग दोष उपस्थित हैं और अपूर्व को विधि माना जावे तो अपूर्व को पहिले से ही जानने के कारण उस के अपूर्वत्व की हानि होती –वह अपूर्व ही नहीं रहता।

शंका—यदि विधि को करण का धर्म मान लिया जावे तो क्या दोष है?

उतर — करण का अभिप्राय या तो शब्द से होगा या शब्द को धर्म अभिधा से अथवा भावना आदि से होगा या फिर इष्ट साधनता से। यदि प्रथमपक्ष को स्वीकार करके यह कहा जावे कि शब्द रूप करण ही विधी को धर्म मानना चाहिये तो यह पक्ष ठीक नहीं है। कैसे ठीक नहीं है? सो सुनिये—

असत्त्वादप्रवृत्तेश्च नाभिधापि गरीयसी
बाधकस्य समानत्वात् परिशेषोऽपि दुर्लभः ॥१३॥

भावार्थ — शब्द बोध का साधन शब्द "यजेत" आदि आख्यात पद हैं। इस शब्द रूप करण का धर्म यदि विधि है तो निश्चय से वह अभिधा ही होगी परन्तु अभिधा तो शक्तिस्मरण रूप होने से शब्द का धर्म सिद्ध नहीं होती किन्तु आत्मा का धर्म सिद्ध होती है क्योंकि स्मृति आत्मनिष्ठ है न कि शब्दनिष्ठ। अतः मीमांसक द्वारा अभिमत, शब्द धर्म रूप अभिधा का तो अभाव ही है। यदि शब्द से अभिधा को अतिरिक्त माना जावे तो उस के ज्ञान से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः अभिधा का पक्ष निर्बल है।

शंका— यदि इष्ट साधनता को विधि मान लिया जावे तो क्या दोष है ?

उत्तर— हेतुत्वादनुमानाच्च मध्यमादौ वियोगतः
अन्यत्र क्लृप्त सामर्थ्यात् निषेधानुपपत्तितः ॥१४॥

भावार्थ— पांच कारणों से इष्टसाधनता को विधि रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यथा—

(१) हेतुत्वात्— अग्नि चाहने वाले का कर्तव्य है कि वह अग्नि प्राप्त करने के लिये दोनों लकड़ियों का मन्थन करे। लकड़ियों का मन्थन क्यों करे ? इस लिये कि विना मन्थन किये अग्नि प्रकट नहीं हो सकती। जैसे यहां लकड़ियों का मन्थन अग्नि की प्राप्ति का इष्ट साधन है और वह हेतु रूप है। वैसे ही 'ब्रह्महत्या तरण कामः अश्वमेधेन यजेत' अर्थात् जो ब्रह्महत्या के पाप पंक से पार जाना चाहे उस को चाहिये कि अश्वमेध यज्ञ करे। यहां भी वैसे ही अश्वमेध यज्ञ, ब्रह्महत्या से पार होने का इष्टसाधन होने से हेतु है। इसी लिये इष्ट साधनता को विधि नहीं कहा जा सकता किन्तु विधि का हेतु ही कहा जा सकता है। जो विधि का हेतु है वह स्वयम् ही विधि है— यह तो व्यर्थ की कल्पना है।

(२) अनुमानात्—इष्ट साधनता विधि का अनुमापक है अर्थात् इष्ट साधनता से विधि का अनुमान किया जाता है इस लिये इष्ट साधनता को विधि नहीं कहा जा सकता।

(३) मध्यमादौ वियोगतः — मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष के इष्ट साधनत्वार्थक न होने से किन्तु उन के ज्ञान के अनन्तर भावि-संकल्पार्थक ही होनेसे इष्ट साधनता को विधि नहीं कहा जा सकता।

(४) अन्यत्र क्लृप्त सामर्थ्यात्—लोक व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि लिङ् के आज्ञादि अर्थों में इच्छा की ही मुख्यता होती है। वैसे ही वैदिक व्यवहार में भी लिङ् के अर्थों में इच्छा में शक्ति मानी जाती है। इस से भी यही सिद्ध होता है की इष्ट साधनता विधि नहीं है।

(५) निषेधानुपपत्तितः — ब्राह्मणं न हन्यात् अर्थात् ब्राह्मण को

न मारना चाहिये -इत्यादि निषेध वाक्यों में इष्ट साधनता... निषेध सिद्ध नहीं किया जा सकता इस लिये भी इष्ट साधनता को विधि नहीं कहा जा सकता।

इस समस्त विचार विनिमय पर ध्यान देने से निष्कर्ष यह निकलता है कि—

विधिर्वक्तुरभिप्राय : प्रवृत्यादौ लिङादिभिः
अभिधेयोऽनुमेयातु कर्तुरिष्टाभ्युपायता ॥१५॥

भावार्थ — जैसे किसी व्यक्ति की किसी चेष्टा को देख कर अनुमान कर लिया जाता है कि इस चेष्टा करने से इस व्यक्ति का अमुक अभिप्राय है। वैसे ही लिङादि के द्वारा प्रवृत्ति आदि को देख कर अनुमान होता है कि वक्ता का अभिप्राय विधि है। जैसे किसी ने कहा 'अग्नि चाहनेवाला दियासलाई को घिसे -अग्निकामः दारुणी मन्थीयात्। इस वाक्य को सुनकर जिस व्यक्ति को अग्नि की आवश्यकता थी उसने दियासलाई को घिसा। ऐसा देख कर प्रत्येक व्यक्ति यही अनुमान लगायेगा कि वक्ता का अभिप्राय यही था कि जो व्यक्ति अग्नि की प्राप्ति चाहता हो उस को दारुमन्थनरूप इष्ट साधन में प्रवृत्त होना चाहिये। ऐसे ही जो अनुमान लौकिक लिङादि के वक्ता के अभिप्राय को समझने के विषय में लगाया जाता है वही अनुमान वैदिक लिङादि के वक्ता के अभिप्राय को समझने के विषय में भी लगाया जा सकता है। निर्णय एक ही निकलता है कि वक्ता नियोक्ता का अभिप्राय ही विधि है।

शंका— लौकिक लिङादिका तो कोई वक्ता हुआ करता है परन्तु वैदिक लिङादि का तो कोई वक्ता नहीं है अतः वैदिक लिङ् आदि से विधि नहीं निकल सकती।

उत्तर— यदि थोडी देर के लिये मीमांसक का यह कहना स्वीकार भी कर लिया जावे कि वैदिक लिङादि का कोई वक्ता (ईश्वर) नहीं है तो भी बलवान् अनुमान से ईश्वर की सिद्धि को कोई भी मीमांसक रोक नहीं सकेगा। जब वैदिक श्रुति में विधि परक वाक्य हैं और उनसे किसी आज्ञा आदि का बोध होता है तो उन ही विधि वाक्यों के द्वारा गुप्तरूप से विद्यमान ईश्वर का अस्तित्व भी प्रकट हुए विन

न रह सकेगा।

देखिये आचार्य क्या कहते हैं— तदस्तित्वेऽपि प्रमाणं नास्तीतिचेत्' यदि यह कहो कि ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है। माभूदन्यत्— तो मत हो। कोई और प्रमाण विधिरेव तावत् गर्भ इव पुंयोगे प्रमाण श्रुतिकुमार्याः— इस विषय में विधि ही गर्भ के समान श्रुति कुमारी के पुरुष संयोग में प्रमाण है। श्रुति कुमारी को विधि रूप गर्भ हो गया है और गर्भ के लिये नियम है कि किसी पुरुष के साथ संयोग हुए बिना किसी कुमारी को गर्भ नहीं हो सकता। अर्थात् जैसे कुमारी के गर्भ को देखकर अनुमान होता है कि इस कुमारी का पुरुष से अवश्य संयोग हुआ है। भले ही कोई चिल्लाता रहे कि कुमारी के साथ किसी पुरुष का सम्बन्ध नहीं हुआ। ऐसे ही श्रुति के गर्भ में विधिवाक्य को देखकर अनुमान होता है कि श्रुतिवाक्यों का वक्ता परमेश्वर अवश्य है। अन्यथा उन का विधित्व ही सिद्ध न होगा

शंका—वैदिक विधि वाक्यों का वक्ता मानना ही आवश्यक है तो हम वेदों के उपाध्यायों को और आचार्यों को या फिर मन्त्रों पर लिखे हुए ऋषियों को ही वेदमन्त्रों के वक्ता मान लेंगे-ईश्वर के मानने की आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—उपाध्याय, आचार्य और ऋषि लोग तो मन्त्रों के मुख्य वक्ता नहीं किन्तु ये तो अनुवक्ता लोग हैं। जैसे शुक और मैना आदि जो वाक्य बोलते हैं उन वाक्यों के वे पक्षी स्वतंत्र वक्ता नहीं होते किन्तु किसी शिक्षक के सिखाये और रटाये हुए वाक्यों के ही वक्ता होते हैं। ऐसे ही वैदिक वाक्यों का स्वतन्त्र वक्ता और उपदेष्टा तो परमेश्वर है और ऋषि आदि अध्येता तथा अध्यापयिता लोग तो शुकादिवत् अनुवाद करने वाले हैं।

अभी तक यह विचार किया गया कि 'कार्यात्, आयोजनात्, धृत्यादे, पदात् और प्रत्ययतः' इन युक्तियों से ईश्वर सिद्धि का दूसरा भी मार्ग है और वह है—वेद के वाक्यों पर विचार करने का, लिङ् प्रत्यय से विधि अर्थपर विचार करके यह सिद्ध किया गया कि आज्ञा स्वयम् नहीं हुआ करती किन्तु किसी वक्ता के द्वारा ही होती है अतः विधि की आज्ञा करनेवाला कोई परमेश्वर है। अब श्रुति हेतु से भी

ईश्वरसिद्धि करने का मार्ग दिखाया जाता है यथा—

कृत्स्न एव हिं वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः ।
स्वार्थ द्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवत् विधौ ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह सारा का सारा वेद, परमेश्वर का ही यशोगान करता है, वेद के किसी भाग को उठाकर देखो तो वहां ही परमेश्वर के किसी न किसी गुण, पराक्रम अथवा स्वभाव का वर्णन पाया जाता है। कहीं इन्द्र सूक्तों में ऐश्वर्य का वर्णन है कहीं पर वरुण सूक्तों में ईश्वर को वरण करने अर्थात् प्राप्त करने का वर्णन है, कहीं अग्नि सूक्तों में अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले के रूप में वर्णन है और कहीं यम सूक्तों में जन्ममरण पर पूर्ण नियन्त्रण करके नियमों का वर्णन करते हुए कर्मफल प्रदाता परमेश्वर का गुण गान किया गया है। कहीं सविता के नाम से शुभ कर्मों की प्रेरणा देने वाले प्रभु का वर्णन है। इस प्रकार अनेकों विशेषणों से एक ही विशेष्य परमेश्वर के गुणगौरव की सम्पूर्ण वेदों में गाथा गायन की गई है।

जैसे 'यजेत' आदि विधि में स्वर्ग आदि प्राप्ति का उद्देश छिपा होता है वैसे ही वेद के मन्त्रों में परमेश्वर की प्राप्ति का वर्णन किया गया है अतः वेद का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर की महिमा का प्रकाश करना तथा ईश्वर की प्राप्ति का उपाय बताना है।

भाव यह है कि ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का वर्णन जितनी उत्तमता और निर्दोषता के साथ युक्ति विस्तार के साथ वेद में किया गया है उतनी उत्तमता के साथ संसार की किसी अन्य पुस्तक में नहीं किया गया है अतः ऐसा वर्णन करनेवाला कोई निर्दोष और सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य है।

'वाक्यात्' —से भी ईश्वर की इसी प्रकार सिद्धि होती है सिद्धि का प्रकार इस प्रकार है — यहां वाक्य का अर्थ है – संसर्ग विशेष का प्रतिपादक होना, अतः वेद में विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों को देख कर अनुमान होता है कि इन विशिष्ट अर्थों का प्रतिपादन करके उपदेश देनेवाला इन का कर्ता कोई सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य है।
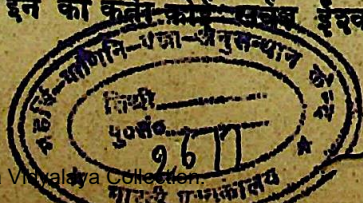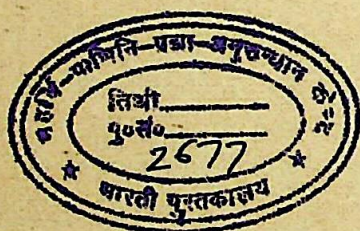
आर्य समाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है ।

२—ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वान्तरयामी अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है । उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए ।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिएं ।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए ।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए ।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ।